

नृत्य-गणेश
(भारत-कला-भवन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

भाग १९ [नवीन संस्करण] संवत् १९९५

(१) श्री गणेश

[लेखक—श्री राय कृष्णदास, काशी]

गणेश की वंदना प्रायः सभी स्मार्त्त हिंदू प्रत्येक शुभ कार्य्य के आरंभ में करते हैं। यहाँ तक कि किसी कार्य्यारंभ के लिये "श्री गणेश करना" एक मुहावरा बन गया है। गणेश की यह प्रथम वंदना इसलिये की जाती है कि कार्य्य निर्विघ्न पूरा हो जाय। प्रारंभ में गणेश एक विघ्नकारक देवता अथवा अपदेवता माने जाते थे। उनकी नामावली में एक नाम विघ्नकर्त्ता भी है। उस समय विनायक-रूप में उनकी गणना यक्षों और राक्षसों के संग की गई मिलती है[1]। किंतु अब गणेश की वंदना और उपासना विघ्नहर्त्ता तथा मंगल

१—कूष्माण्ड-वैनायक-यक्ष-रक्ष-भूतग्रहान् चूर्णय चूर्णयारीन्।

—भागवत ६, ८, २४।

डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः।

भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षो विनायकाः॥

—भागवत १०, ६, २८।

एवं सिद्धि दाता के भाव से की जाती है[१]; लेकिन इस भाव में इतनी बात निहित है कि वे विघ्नों के अधिपति हैं। फलतः, उनकी वंदना से विघ्न चूँ नहीं कर सकते। आरंभ में इस विघ्न-समूह का ही नाम विनायक था और यह अपदेवताओं का एक समूह वा गण माना जाता था[२]। क्रमशः उसी का विकास होकर स्वयं गणपति ने उस गण के अधिपति के रूप में विनायक नाम को भी अपनाकर अपनी वर्तमान सौम्य-मंगल मूर्त्ति धारण की। याज्ञवल्क्य-स्मृति के समय में गणेश का स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्धारित हो चुका था[३], किंतु तब तक उनका मंगलमय रूप स्थिर नहीं हुआ था और उस समय उनके पैदा किए हुए विघ्न की शांति के लिये गणपतिकल्प विधान से उनका पूजन होता था। यह लंबा पूजा-प्रकार उक्त स्मृति में दिया हुआ है[४]। याज्ञवल्क्य-स्मृति का समय जायसवाल ने ई० दूसरी शती में प्रमाणित किया है[५]। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस समय तक गणेश का सौम्य रूप विद्यमान न था। इसके बाद तो गणेश को इतनी प्रधानता मिली कि विष्णु, सूर्य्य, शक्ति और शिव के साथ वे पंचदेवों में परिगणित हुए; और गाणपत्य नाम से उनका एक अलग संप्रदाय और दर्शन भी हो गया[६]।

१—उमासुतं विघ्नविनाशकारकम्।—गणपतिवंदना।
...मुद-मंगल-दाता। सिद्धि-सदन गजवदन विनायक।
—तुलसी० विनयपत्रिका।

२—मानव गृह्यसूत्र, २, १४।

३—गोपीनाथ राव के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण (१, २१, ५) में गणेश का एक स्वतंत्र अप-देवता के रूप में उल्लेख मिलता है। देखिए— हिंदू आइकोनोग्राफ़ी जिल्द १, खंड १, पृष्ठ ४६।

४—याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, प्रकरण ११।

५—जायसवाल—टैगोर लॉ लेक्चर्स।

६—भांडारकर—वैश्नविज़्म इ०, पूना १६२८, पृ० २१२ (§११२)-२१४।

गणेश की पूजा केवल भारत ही में सीमित नहीं। बृहत्तर भारत अर्थात् नेपाल, चीनी-तुर्किस्तान, जावा, बाली, बोर्नियो, तिब्बत, बर्मा, स्याम, चीन, इंडो-चाइना तथा जापान तक में गणेश की उपासना फैली हुई थी एवं है[१]।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का एक अंश गणेश-खंड है। इसी प्रकार स्कंद-पुराण में भी एक गणेश-खंड है। इन दोनों में गणेश-संबंधिनी अनेक कथाएँ और माहात्म्य दिए हुए हैं। स्कंद-पुराण में तो उनके कई अवतार भी वर्णित हैं। इन पुराणों के अनुसार गणेश शिव-पार्वती के पुत्र हैं। ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार जन्म के कुछ ही देर बाद शनैश्चर की दृष्टि पड़ने से उनका सिर कट गया था। इस पर विष्णु ने एक हाथी का सिर काटकर उनके धड़ पर संयोजित कर दिया; इसी कारण उनका नाम गजानन पड़ा। स्कंद-पुराण के अनुसार सिंदूर नामक दैत्य ने पार्वती के गर्भ में प्रवेश करके गणेश का मस्तक काट डाला, परंतु इससे गर्भ का अनिष्ट न हुआ। उसका जन्म अमस्तक ही हुआ। उसे देखकर नारद ने समस्तक होने का अनुरोध किया। शिशु ने अपने तेज से गजासुर का मस्तक काटकर अपने धड़ से जोड़ लिया। इस कारण उनका नाम गजमुख हुआ[२]।

ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार एक बार परशुराम शिव-पार्वती के दर्शन के लिये कैलास गए। उस समय वे निद्रित थे और गणेश पहरा दे रहे थे। अतएव उन्होंने परशुराम को रोका। इस पर कलह हुआ और अंततः परशुराम ने अपने परशु से उनका एक दाँत काट डाला। इसी कारण वे एकदंत हैं[३]। माघ काव्य के अनुसार उनका यह दाँत रावण ने उखाड़ लिया था[४]।

१—'गणेश'—ए मोनोग्राफ़ ऑन द एलिफ़ेंट हेडेड गॉड, लेखिका—कुमारी एलिस गेटी; आक्सफ़र्ड, १६३६।

२—हिंदी विश्वकोश, खंड ६, पृ० १३२-'३३ तथा १५३-'५८।

३— " " पृ० १५३।

४—विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥-शिशुपालवध, १।६०।

गणेश-जन्म की लोक में एक यह कथा प्रचलित है कि एक बार पार्वती स्नान करने गईं। वहाँ उनका मन ऊबने लगा, और समय काटने के लिये उन्होंने मिट्टी का वा उन्हें जो उबटन किया गया था उसकी लीझी का एक गजमुख बालक बना डाला और पीछे से उस पिंड में जान डाल दी जो गणेश हुए।

गणेश संबंधिनी कथाओं में एक मुख्य कथा यह भी है कि उन्होंने महाभारत का लेखन-कार्य्य किया था। वेदव्यास जब महाभारत की रचना का विचार कर चुके तो उन्हें उसे लिखवाने की चिंता हुई। इस पर उन्हें हिरण्यगर्भ ने गणेश से यह कार्य्य लेने का परामर्श दिया। गणेश ने इस शर्त पर लिखना अंगीकार किया कि यदि व्यास कहीं रुकेंगे तो मैं लिखना बंद कर दूँगा। व्यास ने इसे स्वीकार किया। जब उन्हें रुकना होता था तो वे कूटश्लोकों की रचना करके बोल देते थे। इनके अर्थ समझने के लिये गणेश को रुकना पड़ता था। इस बीच व्यास अनेक श्लोकों की रचना कर डालते थे[१]। इस कथा में गणेश विद्याबुद्धि के विधायक हैं। इस रूप में भी उनका बहुत वंदन किया जाता है[२]। गणेश की कल्पना का यह अंश वैदिक देवता बृहस्पति से लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि वैदिक बृहस्पति बुद्धि के देवता हैं[३]; उनके आयुधों में परशु है[४] तथा उनका नाम गणपति है[५]।

१—हिन्दी विश्वकोश, खंड ६, पृ० १५३। गायत्रीतंत्र के अनुसार गणेश को शिव ने बोल कर तंत्र लिखवाए थे; देखिए—महानिर्वाणतंत्र (अँगरेजी) एविलान कृत, पृ० ४, नोट ७।

२—विद्यावारिधि बुद्धिविधाता—तुलसी, विनय०।

३—भांडारकर—वैश्नविज़्म, पृ० २१३; पैरा १११ का अंतिम वाक्य।

४—ऋ० वे० ७. ९७. ७।

५—,, ,, २. २३. १।

महायान बौद्ध संप्रदाय और तंत्रों में भी गणेश-पूजन के विविध प्रकार और क्रिया-कलाप मिलते हैं[1], और हठ-योग में शरीर के भीतर जो अनेक चक्रों की कल्पना की गई है, उसमें मूलाधार (गुदा) चक्र के देवता गणेश हैं[2]। संभवतः इसी कल्पना को लेकर उच्छिष्ट विनायक की उपासना चली, जिसमें यह विधान है कि साधक जूठे मुँह शौचालय में मंत्र सिद्ध करे[3]।

शिव-परिवार में गणेश की गणना का मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि क्रूर और अप-देवता तथा देवयोनि के अन्य सत्त्व जैसे यक्ष, राक्षस, वेताल, भूत-प्रेतादि शिव के गण और परिकरों में हैं; और शिव ही उनके मुख्य अधिष्ठाता हैं। फलतः विघ्न-देवता विनायक भी उनके ज्येष्ठ पुत्र माने गए। इसी प्रकार उनके अनुज कार्त्तिकेय, जो पीछे से देवताओं के सेना-नायक हो जाते हैं, आरंभ में, बालकों के एक दुष्ट-ग्रह हैं।

गणेश का घोर रूप परिवर्त्तित होकर सौम्य रूप हो जाना सर्वथा हिंदू-धर्म की मनोवृत्ति के अनुकूल है। वैदिक रुद्र से शिव हो जाने में और बाल-ग्रह स्कंद से सेनानी हो जाने में भी यही प्रक्रिया पाई जाती है। अपने यहाँ ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे जहाँ देवताओं का उग्र रूप क्रमशः सात्त्विक हो गया है।

अब तक गणेश की जो सबसे प्राचीन मूर्त्ति मिली है, वह भूमरा (नागोद राज्य, मध्यभारत) की है[4]। यह मूर्त्ति द्विभुज है। जावा के हिंदू-मंदिरों में भी गणेश की सुंदर प्रतिमाएँ मिली हैं[5]। गणेश की प्रतिमाओं में एकदंत हाथी का मुँह, लंबा

१—'गणेश', पृ० ३७-४५। तन्त्रसार; पुरश्चर्यार्णव—प्रभाकरी प्रिंटिंग वर्क्स, काशी।

२—'कल्याण' योगांक, पृ० ३६० के सामने वाला चित्र नं० २ तथा शक्ति-अंक पृ० ४५३-४।

३—भांडारकर, वैश्नविज़्म पृ० २१३, पै० ११२।

४—'गणेश', प्लेट ३ बी।

५—'गणेश', प्लेट ३० ए तथा सी; प्लेट ३१ए, बी तथा डी।

उदर, टेढ़ी (विकट) और नाटी (खर्व) देह और नाग-यज्ञोपवीत सार्वभौम रूप से मिलता है। इसी प्रकार उनके आयुधों में अंकुश प्रायः सभी प्रतिमाओं में पाया जाता है। उनका प्रिय आहार मोदक है[१]। गणेश का ध्यान चार भुजा से लेकर आठ वा इससे अधिक भुजाओं तक मिलता है[२]। इन ध्यानों में या तो गणेश बैठे हुए होते हैं या खड़े, या नृत्य करते हुए। शिव के समान उनके इस लाड़ले पूत गणेश के सांध्य नृत्य का वर्णन प्रायः मिलता है[३]। यों तो उनका वाहन मूषक है, किंतु तंत्रों में उनके और वाहन भी मिलते हैं[४]। गणेश की मूर्ति व्यापक रूप से एकमुख ही मिलती है। भारतवर्ष में ग्यारहवीं-बारहवीं शती की उनकी एक पंचमुख मूर्ति मुंशीगंज, ढाका में मिली है ('गणेश', प्लेट ४ बी)। दूसरी काशी में ढुंढिराज गणेश के पास है। किंतु नेपाल में पंचमुख गणेश की उपासना हेरंब नाम से प्रचलित है ('गणेश', पृ० ३२ तथा प्लेट २०बी)। गणेश की अनेक मूर्तियाँ (देखिए 'गणेश' के प्लेट) तथा तांत्रिक ध्यान शक्तिसहित मिलते हैं[४]। कहीं कहीं गणेश की शक्ति की मूर्त्ति अकेले भी मिली है[५]। इसमें सारा आकार गणेश का किंतु वक्षःस्थल स्त्री का होता है। कहीं कहीं पार्वती की गोद में गणेश शिशु रूप में भी मिलते हैं[६]। राज-

---

१—मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता—तुलसी० विनय०।

२—वृंदावन भट्टाचार्य्य—इंडियन इमेजेज़, भाग १ (भारत कला-भवन, काशी), पृ० २५; तथा गोपीनाथ राव—हिंदू आइकोनोग्राफ़ी।

३—नमो विघ्नजिते यस्य जानुदेशे विवर्तते।
कुंभस्रस्तेव नक्षत्रमाला रात्रिषु नृत्यतः।—कथासरित्सागर १२।३३।१।
जय निजतांडवडंबरमर्दभरणयांचितेन भुवनेन।
समहीशैलवनेन प्रणम्यमानेशगजवदन—वही १२।३३।४४।

४—तन्त्रसार, पुरश्चर्यार्णव आदि तंत्र-ग्रंथ।

५—भेड़ाघाट, जबलपुर, चौंसठयोगिनी के मंदिर में। कलकत्ता म्यूज़ियम, मूर्ति-संख्या ३६१६—३११ तथा ६४६४।

६—वेरूल में प्रस्तरमूर्ति तथा अनेक राजपूत चित्रों में।

पूत शैली के चित्रकार प्राय: सदैव गणेश को उनकी शक्ति सिद्धि और बुद्धि के सहित बनाते हैं, जो उनके अगल-बगल अंकित की जाती हैं।

ध्यानों में गणेश का वर्ण सिंदूर-चर्चित होने के कारण सिंदूरिया ही मिलता है, किंतु उनके अन्य वर्णवाले ध्यान भी पाए जाते हैं।

शिव-परिवार में शिशु गणेश के बालविनोद के बड़े सुंदर चित्र, भवभूति से लेकर आज तक के कवियों ने कल्पित किए हैं—

सानंदं नंदिहस्ताहतमुरजरवाहूतकौमारवर्हि:
त्रासान्नासाग्ररंध्रं विशति फणिपतौ भोगसंकोचभाजि।
गंडोड्डीनालिमालामुखरितककुभस्तांडवे शूलपाणे:
वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतय: पांतु चीत्कारवत्य:॥

—भवभूति

क्रोडं तातस्य गच्छन्विशदबिसधिया शावकं शीतभानो:
आकर्षन्भालवैश्वानरनिशितशिखारोचिषा तप्यमान:।
गंगांभ: पातुमिच्छुर्भुजगपतिफणाफूत्कृतैर्दूयमान:,
मात्रा संबोध्य नीतो दुरितमपनयेद्बालवेषो गणेश:॥

—अज्ञात

हे हेरंब, किमंब रोदिषि कथं कर्णौ लुठत्यग्निभू:
किं ते स्कंद विचेष्टितं मम पुरा संख्या कृता चक्षुषाम्।
नैतत्तेऽप्युचितं गजास्यचरितं नासा मिमीतेंब मे,
तावेवं सहसा विलोक्य हसितव्यग्रा शिवा पातु व:॥

—अज्ञात

युगपत्स्वगंडचुंबनलोलौ पितरौ निरीक्ष्य हेरंब:।
तन्मुखमेलनकुतुकी स्वाननमपनीय परिहसन् पायात्॥

—अज्ञात

पितुरुपनय मह्यन्नाकनद्या मृणालम्
नहि तनय मृणाल: किंत्वसौ सर्पराज:।

इतिवदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शंभौ
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः ॥

—विद्यापति

गोद में बैठि करैं जो बिनोद तौ तीसरे नैन पै सुंड चलावैं।
आँच लगें सिसकारी भरैं औ सुधानिधि-रेख में ताहि बुझावैं ॥
सीसजटा-बिच गंग-तरंग चहैं जल पीबो फनीस डरावैं।
देखि बिनोद हँसैं हरखैं सिव पारबती बरजैं, सुख पावैं ॥

—अज्ञात

सिंधुर-बदन सुरंग गंग-सिर-धरन-दुलारे।
गिरिजा-गोद बिनोद करत मोदक मुख धारे ॥
सुभ सुंडिका उभारि धारि सीतल जल धावत।
षड़मुख-सनमुख सुमुख साधि उझकत झझकावत ॥
सो लुकत ओट नंदीस की, लखि दंपति-मन मुद भरै।
यह बाल-खेल गनपाल को बिघन-जाल सुमिरत हरै ॥

—रत्नाकर

जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं,
"देखो अंब, ये हेरंब मानस के तीर पर तुंदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं सविनोद उन्हें सूँड़ से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कंदुक-सा ऊपर उछालते हैं, ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं!"

—मैथिलीशरण गुप्त

पहाड़ी चित्रकारों ने ऐसे कितने ही चित्र बड़ी मार्मिकता से अंकित भी किए हैं[१]।

चांद्र मास के दोनों पक्षों की सभी चतुर्थियाँ गणेश की तिथि हैं। इनमें भी भाद्र शुक्ल चतुर्थी[२] और माघ कृष्ण चतुर्थी मुख्य हैं[३]।

१—'गणेश' में कई चित्र तथा कुमारस्वामी—बोस्टन म्यूज़ियम कैटलॉग (राजपूत-चित्र खंड)।

२—दक्षिण भारत में।

३—उत्तर भारत में।

× × × ×

बौद्धों में श्वेत हस्ती बहुत पवित्र और पूजनीय माना जाता है। उनके यहाँ कथा है कि बुद्ध-माता मायादेवी को स्वप्न हुआ था कि एक श्वेत गज स्वर्ग से उतरकर उनके मुँह में घुसा। पीछे बुद्ध गर्भस्थ हुए। फलतः सफेद हाथी बुद्ध का सूचक माना गया है। इसी से कई स्थानों की अशोक की धर्म-लिपियों में श्वेत हस्ती की मूर्त्ति या नाम दिया गया है। अशोक के कालसीवाले प्रज्ञापन में, लेखों के ऊपर, इस हाथी की एक मूर्त्ति खुदी है, जिसके नीचे गजतमे[१] (=सर्वश्रेष्ठ गज) लिखा है। इसी प्रकार धौली के प्रज्ञापन में सबसे पहले हाथी के सामने की आधी मूर्त्ति उभार कर बनी है। इसी धर्म-लिपि में छठे प्रज्ञापन के अंत में, सेतो (=श्वेतः) शब्द भी लिखा है। गिरनारवाली धर्म-लिपि में तेरहवें प्रज्ञापन के, नीचे, 'व स्वेतो हस्ति सवालोक सुखाहरो नाम' अर्थात् 'सब लोकों को सुख ला देनेवाला श्वेत हस्ती' ये शब्द खुदे हैं[२]।

इसके सिवा उनकी धर्म-लिपियों के चौथे प्रज्ञापन में यह भी दिया है कि जनता को धार्मिक भाव से हाथियों का दर्शन कराया जाता था[३]।

गणेश की गजाकृति का बीज हम बौद्ध धर्म की उक्त हस्ति-पूजा में पाते हैं। यह बात इस तौर पर और दृढ़ होती है कि बुद्ध के

१—वर्तमान संस्कृत व्याकरण के अनुसार तर और **तम** विशेषण के तारतम्य के सूचक हैं और प्रायः विशेषणों के ही साथ लगते हैं किन्तु पहले ये संज्ञाओं के साथ भी लगते थे। जैसे यहाँ 'गजतमो' में; किंवा ऋ० वे० (२।४१।१६) में 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति'।

२—उक्त हवालों के लिये देखिए—अशोक की धर्मलिपियाँ (ना० प्र० सभा) प्रथम खण्ड, निवेदन, पृ० २।

३—अशोक की धर्मलिपियाँ (ना० प्र० स०), प्रथम खण्ड, पृ० ३४।

नाम भी विनायक और गणश्रेष्ठ हैं[१]। संभवतः शेषोक्त शब्द का प्रयोग बौद्धों ने बुद्ध के लिये, उसी अर्थ में किया है जिसमें जैनों ने अपने यहाँ गणाधिप शब्द का किया है। उनके अनुसार गणाधिप का अर्थ है—वह व्यक्ति जो साधुओं के संघ (=गण) में सबसे श्रेष्ठ अथवा वृद्ध और बहुज्ञानी हो; अर्थात् मुनियों का अधिपति[२]। एक ओर बौद्धों में हाथी का बुद्ध के प्रतीक होने के कारण श्रेष्ठत्व, दूसरी ओर बुद्ध का पर्य्याय विनायक एवं गणश्रेष्ठ, तीसरी ओर पुराणों की यह कथा कि गणेश के धड़ पर हाथी का मस्तक पीछे से जोड़ा गया था, इस बात को प्रमाणित करता है कि गणेश की आकृति में हाथी का मुँह बौद्ध मत से आया है[३]।

१—षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।—अमर०।

शरणं गच्छामि गणानां श्रेष्ठम्।—बोधिसत्व प्रतिमोक्ष सूत्र।

(इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली में प्रकाशित, जून, १९३१, पृ० २७३)

२—हिंदी विश्वकोष, खण्ड ६, पृ० १५२।

३—कथासरित्सागर की एक कथा में मिलता है—

मृते राजनि चानादिर्देशे तत्रेदृशी स्थितिः।
यन्मङ्गलगजः पौरैर्भ्राम्यमाणः करेण यम्॥
आरोपयति पृष्ठे स्वे सोऽत्र राज्येऽभिषिच्यते।
स धैर्यतुष्टो धातेव भ्रमन्प्राप्तोऽन्तिकं गजः॥
उत्क्षिप्यारोपयामास स्वपृष्ठे तं वणिक्सुतम्।
ततः स नगरं नीत्वा राज्ये प्रकृतिभिः क्षणात्।
वणिक्सुतोऽभिषिक्तोऽभूद्बोधिसत्त्वांशसंभवः॥

—१०।६।२३—२६

अर्थात्, उस देश की सनातन रीति थी कि राजा के मर जाने पर वहाँ के पौर, **मंगल-गज** को नगर में घुमाते थे। वह अपनी सूँड़ से उठाकर जिस व्यक्ति को अपनी पीठ पर बैठा लेता वही राज्याभिषिक्त किया जाता था। अस्तु; उस

हम ऊपर देख चुके हैं कि गणेश की संभवतः सबसे प्राचीन स्वतंत्र मूर्त्ति भूमरा में है। शैली के अनुसार इसका समय भारशिव काल अर्थात् ई० तीसरी शती संभावित है। किसी अवस्था में भी यह प्रारंभिक गुप्त काल के इधर की नहीं हो सकती। इस मूर्त्ति में गणेश की आकृति इतनी निश्चित हो चुकी है कि इसे उनकी आरंभिक आकृति नहीं कह सकते। इसके निर्माण-काल से पूर्व उसकी कल्पना स्थिर हो चुकी माननी पड़ती है। अमरावती (दक्षिण भारत) की एक तकिया (=वेदिका, रेलिंग) में एक गो-मूत्रिका[१] बनी है जिसमें एक नाटे और मोटे गण की मूर्त्ति है, जिसका मुख गजाकृति है। यह मूर्त्ति अन्य गणों के साथ है[२]। और इसका समय लगभग ईसवी सन् का आरंभ है। इसी काल का वा इससे कुछ पहले का सिंहल में एक स्तूप मिला है[३], जिसमें अन्य गणों के साथ बीच में गणेश बैठे हैं। ये गणेश एकदंत हैं और उनके पार्श्ववर्ती गण उनके अभिमुख बैठे हैं[४]। इधर हुविष्क के एक सिक्के में एक मूर्त्ति के नीचे गणेश लिखा मिलता है, किंतु मूर्त्ति की आकृति शिव की है[५]; शिव का एक नाम गणेश वा गणेशान भी है[६]।

हाथी ने भ्रमण करते करते उस (कथा के नायक) वणिक्पुत्र को अपनी पीठ पर धर लिया; अतः प्रजा वर्ग ने उसे लाकर गद्दी दे दी।

यह वर्णन स्पष्टतः किसी गणतंत्र के संबंध में है। यौधेय गणतन्त्र का, जो मौर्य युग के बाद सबसे प्रबल और विशाल गण-राज्य था, लक्ष्म हाथी था। संभवतः उसी की संज्ञा मंगल-गज थी और वही उक्त कथा की जड़ में है। यही मंगलमय प्रतीक गणेश की मंगलमूर्ति का बीज जान पड़ता है।

१—एक लहरदार बेल जिसकी आकृति ऐसी होती है~~~~~~~~

२—'अमरावती' बर्गेस् कृत; प्लेट ३०, आकृति १।

३—'गणेश', पृ० २५। इस स्तूप के उल्लेख पहली-दूसरी शती के शिलालेखों में हैं।

४—'गणेश', प्लेट २२ सी।

५—इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, में। समय ई० प्रथम शती का अंत।

६—यजुर्वेद में शिव का पशु मूसा है—आखुस्ते पशुः—यजु०, ३, ५७।

इस प्रकार ईसवी की पहली शती में हम एक ओर गणेश को शिव के रूप में, दूसरी ओर गणों के समूह में पाते हैं। अर्थात् यही समय उनकी निजस्विता के आविर्भाव का मानना चाहिए। ठीक इसके बाद याज्ञवल्क्य स्मृति का समय है जब गणेश का व्यक्तित्व स्थिर हो चुका था। फलत: ईसवी दूसरी शती से ही गणेश की स्वतंत्र प्रतिमा का निर्माण भी प्रारंभ हुआ होगा। तभी भूमरा की तीसरी-चौथी शती की प्रतिमा में उनका रूप इतना सुनिश्चित और पारंपरीण है। आर्यावर्त में इसके पहले की उनकी मूर्ति का न मिलना उस शक-मुरुंड युग की गूँज है जिसमें मूर्तियों का सार्वभौम नाश किया गया था[१]।

नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रहालय, भारत-कला-भवन, में नृत्य करते हुए गणेश की एक मध्यकालीन (प्राय: १०वीं—१२वीं शती की) मूर्ति है। यह चुनार के पत्थर की है और अंशत: कोरकर बनाई गई है। यह २४$\frac{1}{2}$" ऊँची, १४$\frac{1}{2}$" चौड़ी तथा ४$\frac{1}{2}$" मोटी है। इसमें गणेश का रूप भावपूर्ण है; नाचने की प्रसन्नता उनके मुँह से झलक रही है और उनकी सारी आकृति मुद-मंगल-दाता है। उनका त्रिभंग और ताल पर पड़ते हुए चरण सुंदरता से दिखाए गए हैं। यह मूर्त्ति अष्टभुज है और इसमें दक्षिणावर्त क्रम से हाथों में (१) व्रीहि का अग्रभाग (धान की बाल), (२) परशु, (३) जपमाला, (४-५) नागपाश, ऊपर के दो हाथों में, (६) अपना टूटा हुआ दाँत, (७) मोदक का दोना तथा (८) व्रीहि का अग्रभाग है।

आशा है कि इसके चित्र से, जो इस अंक के आरंभ में प्रकाशित किया जाता है, इसके बिंब की मनोहरता का रस बहुत कुछ प्राप्त हो सकेगा।

१—जायसवाल—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ २।

द्रष्टव्य—

गेटी, कुमारी एलिस—गणेश। आक्सफ़र्ड। १६३६ ई० में प्रकाशित।

भगवान्‌दास, डा०—'समन्वय' लीडर प्रेस, प्रयाग। (गणपति-पूजन नामक लेख। गणेश की आध्यात्मिक व्याख्या के लिये।)

भट्टशाली, नलिनीकान्त—आइकोनोग्राफ़ी आफ़ बुद्धिस्ट एंड ब्राह्मेनिकल इमेजेज़ इन द ढाका म्यूज़ियम्। ढाका।

भट्टाचार्य, विनयतोष—इंडियन् बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफ़ी। लंदन। ऐन इन्ट्रोडक्शन् टु बुद्धिस्ट एसोट्रिज़्म्। आक्सफ़र्ड।

भट्टाचार्य, वृंदावन—इंडियन् इमेजेज़, भाग १। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

भांडारकर, रामकृष्ण गोपाल—वैश्नविज़म इ०। पूना।

रामचंद्रन, टी० एन०—द गोल्डन् एज आफ हिन्दू-जावनीज आर्ट। 'त्रिवेणी' पत्रिका, १६३१। मदरास।

राय, एन० आर०—ब्राह्मेनिकल गॉड्स इन बर्मा। कलकत्ता।

राव, गोपीनाथ—एलिमेंटस् आफ़ हिंदू आइकोनोग्राफ़ी, जिल्द १। मद्रास।

शास्त्री, कृष्ण—साउथ् इंडियन् इमेजेज़ आफ़ गॉड एंड गॉडेसेज़ मद्रास।

इनके सिवा, प्रवासी, १३२७ (वंगाब्द) में श्री चारु बनर्जी का गणेश पर लेख तथा 'विश्वभारती' नवंबर-जनवरी १६३१-३२ में श्री हरिदास मित्र का 'गणपति' शीर्षक लेख।

विस्तृत सूची तथा ज्ञान के लिये कु० एलिस गेटी का 'गणेश' विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसमें इस विषय की विशद तथा अद्यतन पड़ताल की गई है।

---

(२) हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं का व्यावहारिक साम्य

(पत्रिका, भाग १८ अंक ४, पृ० ४१६ से आगे)

[लेखक--श्री ना० नागप्पा, एम० ए० बंगळूर]

तीसरा अध्याय

व्यंजन-ध्वनि (Consonant sounds)

(१) प्राचीन द्राविड़ मूल भाषा में निम्नलिखित व्यंजन ध्वनियाँ थीं—

	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	दंत्य	ओष्ठ्य	
अघोष	क	च	ट	त	प	स्पर्श
घोष	ग	ज	ड	द	ब	अल्पप्राण
अघोष	...	...	...	...	व़	अर्ध-
घोष	...	...	ऴ	...	व	पार्श्विक
नासिका	ङ	ञ	ण	न	म	
पार्श्विक	...	...	ळ	ल	...	
			ऱ			
अर्धस्वर	...	य	...	...	...	

टि०—स्पर्श उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुख के भीतर या बाहर के दो उच्चारण-अवयव एक दूसरे को इतने ज़ोर से स्पर्श करके सहसा खुलते हैं कि निःश्वास थोड़ी देर के लिये बिलकुल रुककर फिर वेग के साथ सहसा बाहर निकलता है।

अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों की सहायता नहीं ली जाती।

घोष वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर-तंत्रियों की सहायता ली जाती है।

(२) उच्चारण

(अ) कंठ्य 'क' 'ग' 'ङ' के उच्चारण संस्कृतवत् होते हैं।

(आ) तालव्य 'च ज ञ' के उच्चारण भी संस्कृतवत् हैं।

(इ) मूर्धन्य 'ट' 'ड' 'ण' के उच्चारण भी संस्कृतवत् हैं।

द्राविड़ भाषाओं में 'ट ड ण ळ .ळ .र' इन ध्वनियों का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर उसके नीचे के हिस्से से कठोर तालु के मध्य भाग के निकट छुवाकर किया जाता है।

.र, .ळ [१] ये दो ध्वनियाँ द्राविड़ भाषाओं की अपनी हैं। .ळ का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर, हिंदी की

अर्ध-पार्श्विक (continuants) वर्णों के उच्चारण में मुखविवर थोड़ा थोड़ा खुला रहता है, बिलकुल बंद नहीं रहता। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में अलबत्ता बंद रहता है।

पार्श्विक उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुखविवर को सामने से तो जीभ बंद कर देती है किन्तु दोनों पार्श्वों से श्वास निकलता रहता है।

अर्धस्वर उस ध्वनि को कहते हैं जिसके उच्चारण में मुख सँकरा तो कर दिया जाता है, पर इतना अधिक नहीं कि स्पर्श या संघर्षी ध्वनि निकले और न इतना कम कि ध्वनि स्वर का रूप धारण करे।

१—'ळ' और '.ळ' के बारे में महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी लिखते हैं—"ऋग्वेद में दो स्वरों के बीच के 'ड' का उच्चारण और उसी प्रकार आए हुए 'ढ' का उच्चारण क्रमशः 'ळ' और 'ळ्ह' हो जाता है। इन दोनों के लिये भी पृथक् चिह्न हैं। 'ळ' का प्रचार राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ और सारे दक्षिण में अब भी है। और उसका संकेत भी अलग ही है जो प्राचीन 'ळ' से ही निकला है। 'ळ्ह' के आजकल 'ळ्' और 'ह्' को मिलाकर 'ळह' रूप में लिखते हैं। परंतु प्राचीन काल में उसके लिये भी कोई पृथक् चिह्न नियत रहा होगा; क्योंकि प्राचीन तेलुगु, कन्नड, ग्रंथ और तमिळ् लिपियों के लेखों में 'ळ' के अतिरिक्त एक और '.ळ' मिलता है। वैसा ही कोई चिह्न 'ढ' के स्थानापन्न 'ळह' के लिये प्राचीन वैदिक पुस्तकों में मिलना चाहिए।"

'र' ध्वनि निकालने के प्रयत्न से होता है। यह एक मूर्धन्य संघर्षी (Retroflexive fricative) ध्वनि है।

ऱ अतीव कर्कश ध्वनि है। जीभ की नोक से तालु को खूब अच्छी तरह स्पर्श करने से 'ऱ' का उच्चारण होता है। भेड़ों को बुलाने के लिये जो 'अ ऱ् ऱ्......' सी आवाज गड़ेरिए निकालते हैं उससे यह ध्वनि मिलती-जुलती सी है। वास्तव में यह उससे भी अधिक कर्कश है।

'ळ' का उच्चारण मराठी के 'हळदी' के 'ळ' सा है।

(ई) दंत्य—'त, द, न' तथा वर्त्स्य 'ल' संस्कृतवत् उच्चरित होते थे पर 'र' का उच्चारण हिंदी-जैसा होते हुए भी थोड़ा कर्कश है।

(उ) ओष्ठ्य [या द्वयोष्ठ्य] 'प, ब, म' का उच्चारण हिंदी-सा होता है।

व् का उच्चारण 'स्काच' भाषा के which शब्द के wh के समान होता है[1]।

(३) महाप्राण ध्वनियाँ

प्राचीन द्राविड़ भाषा में वर्गीय व्यंजनों की महाप्राण ध्वनियाँ नहीं थीं। 'ख छ ठ थ फ' और 'घ झ ढ ध भ' वर्णों के लिये चिह्न तामिळ् लिपि में अब भी नहीं हैं। अन्य शिष्ट भाषाओं में यद्यपि इनके चिह्न पृथक् पृथक् हैं, पर कर्नाटक की जनता इन ध्वनियों का उच्चारण ठीक तौर पर नहीं कर सकती। यही कारण है कि कन्नड में (और अन्य द्रा. भा. में भी) संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों में महाप्राण वर्ण वर्गीय अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	—	कन्नड [प्राचीन]
खातिका	>	कादिगं (पंप ४-३२)

१—'श' तथा 'ष' वर्ण कन्नड तथा अन्य द्राविड़ भाषाओं में आर्य भाषाओं से लिए गए हैं। 'ह' वर्ण भी द्राविड़ भाषाओं में आर्य भाषाओं से ही लिया गया है। यह उपादान पाँच सौ वर्ष के इधर ही हुआ है।

संस्कृत		कन्नड	
वर्धमान	>	वद्दबन	(पंप ३-३१ ग)
विधु	>	बिदु (पंप १०-१० ३)	
भुजंग	>	बोजङ्ग (पंप ४-८७)	
भ्रमण	>	बवर्ण (आ० क० बो०)	

मध्यकालीन कन्नड में भी यही बात पाई जाती है

अर्घ्य	>	अग्ग (हरिश्चंद्र काव्य संग्रह	१-११)
मुग्ध	>	मुगुद ("	६-१४)
घालि	>	गालि (जैमिनि भारत	३-२१)

आधुनिक बोलचाल की कन्नड तथा मैसूर की ग्रामीण भाषा में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है :—

संस्कृत	>	कन्नड
ध्वंस	>	दोंस
साधारण	>	सादारण
बुद्धि	>	बुद्दि
अनुभव	>	अन्बौव
भूमि	>	बूमि

अन्य-भाषा-गत शब्दों में भी ऐसा परिवर्तन हो जाता है—

(फ़ा०) तारीफ़	>	तारीपु
(हिं०) घेरना	>	गेरायिसु
(फ़ा०) ख़्वाहिश	>	कायिष्षु

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कन्नड में प्राचीन काल में महाप्राण वर्ण नहीं थे। महाप्राणों का प्रयोग मध्यकालीन कन्नड के काव्यों में तब से प्रारंभ हुआ जब से तत्सम शब्दों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति बढ़ी। कन्नड के 'हरिश्चंद्र काव्य'[१] में 'भूमि' 'कभ' आदि रूप भी मिलते हैं। आजकल भी ग्रामीण भाषा में महाप्राण कहीं कहीं सुनने

१ – हरिश्चंद्र काव्य संग्रह (रचनाकाल ई० सन् १२६०) रचयिता राघवांक (मैसूर विश्वविद्यालय ई० १६३३)

में आते हैं। जैसे (फ़ा) फ़ैसला >फ़ैसल। आजकल दक्षिण देश के शहरों की भाषा में महाप्राण ध्वनियों का पूर्ण रूप से समावेश हो गया है। ग्रामों में अभी इनका उतना चलन नहीं है। साहित्यासीन भाषा में महाप्राण ध्वनियों का बराबर प्रयोग होता है। प्राकृत शब्दों में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं मिलतीं।

द्राविड़ भाषाओं में अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजनों का उच्चारण-वैचित्र्य

द्राविड़ भाषाओं में मध्यग अल्पप्राण-अघोष-स्पर्श व्यंजन अल्पप्राण-घोष स्पर्श व्यंजनों में परिवर्तित होते हैं अर्थात् मध्यग 'क च ट त प' 'ग ज ड द ब' में परिवर्तित हो जाते हैं। 'व्यंजन परिवर्तन' के अध्याय में इस प्रवृत्ति पर अधिक विस्तृत रूप से लिखा जायगा। द्रा० भा० के इस प्रस्तुत वैचित्र्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि मध्यग अल्पप्राण अघोष स्पर्श वर्णों का अघोष उच्चारण न होकर प्राय: घोष उच्चारण होता है। यही प्रवृत्ति संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों में भी पाई जाती है।

उदा०—

ठेठ द्राविड़ शब्द	संस्कृत से व्युत्पन्न शब्द
(कन्नड) आगलि (हो)	(सं०) मुकुट < मुगुट (क०) (रा०५४)
< <पुलिदोलू> >(तमिळ्)	(,,) लोक > उलगम् (त०)
(व्याघ्रचर्म)	(,,) वृषभ > इडव (म०)
< <मिगुलु> >(तेलुगु) (बचाना)	
(मलयाळम्) अग (कली)	

अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजनों के अघोष उच्चारण तभी होते हैं जब वे शब्दों के आदि में हों या जब वे मध्यग सम संयुक्त व्यंजन हों।

तमिळ्	कडल् (=समुद्र)	तट्टु (=थपकी देना)
मलयाळम्	कडल्	तट्टु
तेलुगु	कडलि	तट्टु
कन्नड	कडलु	तट्टु
तुळु	कडलु	तट्टु

(४) द्राविड़ भाषाओं में तालव्योच्चारण

तमिळ् में 'श' का उच्चारण संस्कृत के 'श' के उच्चारण से भिन्न है। श्री L. V. Ramaswami Iyyar ने इस ध्वनि का यों विवरण दिया है:—

'In Tamil where ś in initial position is general, except in Tinnevelli and Jaffna, the fricative is produced by the raising of the middle of the foreblade of the tongue against the region of the mouth-roof somewhat behind the teeth ridge where a slight hole-like passage is formed through which air is allowed to escape. This is the value of ś in Tamil words like śā (to die), Śinna (small) etc.

But, Tamil has an affricate c[=cf in IPA Script] which is constituted of a plosive element and a fricative ṡ. This fricative element (in cf) is always produced in Tamil at a still more backward position

than in the variety described above, so far as both the region of the mouth-roof and the position of the hard palate, i. e. the same point at which the plosive element (c) or (cf) or c of geminated medial of cc of Tamil is produced."

मलयाळम् भाषा में शब्द के आदि में 'च' का ही प्रयोग होता है और 'श' का प्रयोग केवल शब्द के मध्य में होता है। इस प्रयोग-वैचित्र्य से 'श' का उच्चारण affricate [cf] में के संघर्षी (fricate) सा होने लगा है अर्थात् तमिळ् के < <'श'> > से ईषत् पश्च उच्चारण होता है।

तेलुगु कन्नड एवं तुळु में 'च' के उच्चारण में जीभ की नोक जहाँ तालु को स्पर्श करके रह जाती है उसी स्थान में 'श' का उच्चारण होता है। मलयाळम् 'श' का भी उत्पत्ति-स्थान यही है।

तालव्य 'श' का उच्चारण तमिळ् में कन्नड की अपेक्षा अधिक होता है। तमिळ् के असंयुक्त (uncombined) श का कन्नड में स और तेलुगु में च हो जाता है। जैसे--

(त०) शेंडु (गेंद) > (क०) सेंडु, (ते०) चेंडु।

परंतु तेलुगु में 'च' एवं 'ज' के 'त्स' 'द्ज़्' जैसे उच्चारण प्रचलित हैं जिनके तेलुगु में 'ౘ', 'ౙ' चिह्न हैं। ये उच्चारण अन्य द्राविड़ भाषाओं में नहीं हैं। आर्य भाषाओं में केवल मराठी और उत्तर-पश्चिमी (काश्मीरी, पश्तो) भाषाओं में इस प्रकार के उच्चारण मिलते हैं जिन पर तेलुगु के प्रभाव का अनुमान हो सकता है। 'श' के 'च' में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति पर भी द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव माना जाता है।

(५) भारतीय आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण

बहुत दिनों से भाषा-विज्ञान-जगत् में यह चर्चा चली आ रही है कि भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों का समावेश द्राविड़ भाषाओं

के संपर्क से हुआ है, या नहीं। काल्डवेल साहब का मत है कि प्रा० द्रा० भा० से ही ये ध्वनियाँ भा० आ० भा० में आई हैं। डा० ग्रियर्सन एवं स्टेन कोनो साहबों ने मध्य मार्ग का ग्रहण करके अपनी 'लिंग्विस्टिक सर्वे' (जिल्द ४ पृ० २७९) में लिखा है—

"भारत-यूरोपीय भाषाओं में ये वर्ण कदाचित् नहीं थे। उन भाषाओं में शुद्ध दंत्य वर्ण तो नहीं थे, जिनका उच्चारण जीभ से दाँतों को स्पर्श करने से होता है, पर उनका उच्चारण जीभ से ऊपर के मसूढ़ों का स्पर्श करने से होता था अर्थात् वे वर्त्स्य थे। यह तो स्पष्ट है कि इनमें से कुछ वर्ण भारत में दंत्य हो गए हैं और कुछ मूर्धन्य। प्राय: मूर्धन्य वर्ण उन संयुक्त व्यंजनों के परिणामत: हैं जिनमें 'ल' और पुराने दंत्य वर्णों का संयोग था। इस प्रकार के परिवर्तन अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी होते हैं। अत: संभव है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हों। क्योंकि मूर्धन्य वर्णों का उच्चारणाधिक्य द्राविड़ भाषाओं का एक वैचित्र्य है, अत: यह भी संभव है कि अधिकता से मूर्धन्य वर्णों के उपयोग करने की उनकी प्रवृत्ति का भारतीय आर्यों की स्वतंत्र प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़ा हो।"

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी अपनी 'बंगभाषा की उत्पत्ति और विकास' नामक पुस्तक[१] (The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta 1926) में लिखते हैं :—

"ट, ड, ण, ळ, ऴ (ऴ=मूर्धन्य संघर्षी) वर्ण द्राविड़ भाषाओं की विशेषता हैं। ये वर्ण वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त और किसी प्राचीन भारत-यूरोपीय भाषा में नहीं मिलते। आधुनिक स्वीडिश (जो एक आधुनिक भारत-यूरोपीय भाषा है) भाषा में 'र्द' से 'ड' की उत्पत्ति हुई है जिसका साम्य प्राचीन मागधी में उपलब्ध है। (मागधी में सदा 'र' का 'ल' होता था। 'र' + दंत्य स्पर्श > मूर्धन्य स्पर्श'। यह परिवर्तन असल में 'ल + दंत्य स्पर्श > मूर्धन्य स्पर्श' है, जिस पर देशी प्रभाव है।)

१—भाग पहिला, पृष्ठ १७०,१७१.

उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण भी भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन काल से होता आया है। मध्यग ड, ढ > ड़, ढ़, आ० भा० आ० भाषाओं में हैं। प्रायः यह परिवर्तन म० भा० आ० भा० में ही था। यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में भी पाई जाती है[1] ।"

रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा अपनी 'भारतीय लिपि-माला' (दूसरा संस्करण सं० १९७५) [2] में लिखते हैं:—

"बाबू जगन्मोहन वर्मा ने यह भी निष्कर्ष[3] निकाला है कि 'ट ठ ड ढ ण' ये पाँच मूर्धन्य वर्ण आर्यों के नहीं थे। वैदिक काल के आरंभ में अनार्यों की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग जब आर्यों ने देखा तब वे उनके कानों को बड़े मनोहर लगे अतएव उन्होंने उन्हें अपनी भाषा में ले लिया।

इसके प्रमाण में लिखा है कि 'पारसी आर्यों की वर्णमाला में मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव है और धातु-पाठ में थोड़े से धातुओं को छोड़कर शेष कोई धातु ऐसा नहीं जिसके आदि में मूर्धन्य वर्ण हो' परंतु पारसी आर्यों के यहाँ केवल मूर्धन्य वर्णों का ही अभाव हो सो नहीं, किंतु उनकी वर्णमाला में 'छ', भ', 'ल' वर्ण भी नहीं हैं और वैदिक या संस्कृत साहित्य में 'ञ' से आरंभ होनेवाला कोई धातु या शब्द भी नहीं है। तो क्या 'छ' 'भ' 'ल' और 'ञ' वर्ण भी अनार्यों से ही लिए गए? 'ट'[4], 'ड'[5], 'ढ'[6], और 'ण'[7] से आरंभ होनेवाले बहुत से धातु

१—यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में नहीं पाई जाती।

२—पृष्ठ ३०,३१.

३—सरस्वती—ई० सन् १९१५ पृ० ३७०, ७१.

४—'ट' से प्रारंभ होनेवाले धातु :—टंक्, टल्, टिक्, टिप् टीक, ट्वल् हैं।

५—'ड' ... ... :—डप्, डम् डंब् डंभ् डिप् और डी हैं।

६—'ढ' वाला धातु :—√ढौक् है।

७—पाणिनि ने बहुत से धातु 'ण' से आरम्भ होनेवाले माने हैं णोनः; पा० ६।१।६५; उपसर्गादसमासेऽपि णो पदे शस्यः पा० ८।४।१४।

हैं और जिनमें मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग हुआ हो, ऐसे हजारों शब्द वैदिक साहित्य में पाए जाते हैं। ग्रीक आर्यों की भाषा में 'ट' और 'ड' ही हैं, 'त' और 'द' का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसी से ग्रीकों ने फ़िनीशियन अक्षर 'तावू' ('त' का सूचक) से 'टाओ' (ट) और 'दालेथ' ('ड') बनाया।

ऐसी दशा में बाबू जगन्मोहन वर्मा का यह दूसरा कथन भी आदरणीय नहीं हो सकता।''

बाबू जगन्मोहन वर्मा का मत है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में द्राविड़ भाषाओं से ही लिए गए हैं (दे० सरस्वती १९१५, पृ० ३७०, ७१)। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में निम्न-लिखित कारण लिखे हैं:—

(१) आर्य जाति की किसी भी शाखा की वर्णमाला में मूर्धन्य वर्ण नहीं हैं। फारसी आर्यों की वर्णमाला, में जिनका भारतीय आर्यों के साथ घनिष्ठ संबंध है, मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव है। उनकी भाषा में सब जगह मूर्धन्य वर्णों के स्थान पर दंत्य वर्णों से काम लिया जाता है। जैसे 'अष्ट' का 'हश्त'; 'षष्टि' का 'शस्त'; 'मुष्टि' का 'मुश्त','कृष्टि' का 'किश्त','विष्टर' का 'बिस्तर','उष्ट्र' का 'उस्तुर' इत्यादि।

(२) धातु पाठ में धातुओं का संग्रह है। वहाँ थोड़े से धातुओं को छोड़कर शेष कोई धातु ऐसा नहीं जिसके आदि में मूर्धन्य वर्ण हो। मूर्धन्य वर्ण जिनके आदि में हैं वे प्राय: दूसरे धातुओं के अनुकरण पर वर्ण-विकार करके बनाए गए हैं। उनका ब्योरा इस प्रकार है :—

(क) पाँच धातु 'ट'कारादि हैं, टिकट, टकि, टीकृ, टल और ट्वलू। इनमें 'टकि बंधने' 'तकि कृच्छ्रजीवने' से ही बना है। इन दोनों के अर्थों में भी परस्पर संबंध है। कृच्छ्रजीवन, बंधन या स्वतंत्रता के नाश होने पर ही होता है। अतएव 'टिकृ' और 'टीकृ', 'तिकृ' और 'तीकृ' की ही छाया जान पड़ते हैं। 'टल' और 'ट्वलू' का संबंध ''तड़ आघाते'' से है। उनका अर्थ 'वैकल्य' है जो आघात का परिणाम मात्र है।

(ख) डकारादि के केवल चार धातु हैं—डप्, डिप्, डिंप् और डीङ्। पहले दो, 'डप्' और 'डिप्' 'पिंड्' धातु से आद्यंत-विपर्यय द्वारा बने हैं। उनका अर्थ भी संघात ही है। तीसरे 'डिंप्' का अर्थ 'क्षेपे' है, 'पृथ आक्षेपे' से आद्यंत-विपर्यय द्वारा बना है। चौथा 'डीङ्' 'दीङ्' का रूपांतर है। केवल अंतर इतना ही है कि 'डीङ्' का अर्थ उड़ना है और 'दीङ्' का अर्थ 'क्षय' होना।

(ग) 'ढ'कारादि केवल 'ढौकृ' धातु है जो 'त्रौकृ' धातु का रूपांतर मात्र[1] है।

इन धातुओं का प्रयोग वेदों में नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि इनकी कल्पना पीछे से अन्य धातुओं के अनुकरण पर की गई है।

(३) वैदिक शब्दों की जाँच से पता लगता है कि कितने ही स्थलों पर बलात् वर्णविकार करके मूर्धन्य वर्ण लाया गया है। हम यहाँ ऐसे वर्णों के कुछ उदाहरण देने के पहले महर्षि यास्क की सम्मति उद्धृत करते हैं। उन्होंने 'निघंटु' शब्द की निरुक्ति में जो कुछ लिखा है उससे पाठकों को यह स्पष्ट हो जायगा कि यह केवल हमारी ही सम्मति नहीं है। हमसे बहुत पहले यास्कादि महर्षियों ने भी इसे जान लिया था। यास्काचार्य निरुक्त के आदि में निघंटु शब्द पर लिखते हैं :—

"समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघंटव इत्याचक्षते। निघंटवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघंटव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः।"

१—'ण'कारादि धातुओं के आदि 'ण'कार के स्थान पर काम में लाते समय 'न'कार हो जाता है। अतः उनको 'ण'कारादि मानना ही नहीं चाहिए। जैसे—√णक्ष् > नक्षत्र, √णभ > नभ; √णुद > नोदयति, √णी > नयति, इत्यादि।

इसका सारांश यह है कि "निगन्तु" शब्द से बिगड़कर "निघण्टु" शब्द बना है। उपमन्यु आचार्य कहते हैं कि वेदों से शब्द निकाल निकाल कर संग्रह किए गए हैं। इसी लिये इसे 'निगम' या 'निगन्तु' कहते थे। इसी से निघंटु शब्द बना है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल के आरंभ में आर्यों ने अनार्यों की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग देखा तो वे उनके कानों में बड़े मनोहर लगे। अतएव उन्होंने उनको अपनी भाषा में ले लिया[1]। यहाँ हम ऋग्वेद से नमूने के लिये दो-चार वाक्य उद्धृत करते हैं। इन वाक्यों से इस अनुमान की पुष्टि होती है :—

(क) विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रयांस्युत्तरा।१।११।७

(ख) देव्या होतारा प्रथम विदुष्टर ऋजुपच्चत: समृचावयुष्टरा।२।३।७।

(ग) स्युष्टे सत्या इहाशिष: ।८।४४।२३

(घ) यूयं हिष्ठा सुदानव: ।१।१५।२

(ङ) रथेष्ठेन हर्यश्वेन विच्युता: ।२।१७।३

(च) जराबोधतद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय।१।२७।१०.

उपर्युक्त उदाहरणों से यह मालूम होगा कि प्रथम तीन पंक्तियों में 'त' के स्थान पर 'ट', ४ और ५ में 'थ' के स्थान पर 'ठ' और ६ठो पंक्ति में द्ध के स्थान पर ड्ढ किया गया है। इतना ही नहीं 'दुस्तर' के स्थान पर वेदों में भी प्राय: 'दुष्टर' हो गया है। 'स्थिर' शब्द 'गवि' और 'युधि' के साथ मिलने से 'ष्ठिर' हो जाता है।

(४) मूर्धन्य वर्णों की अधिकता अब तक अनार्य जातियों की भाषा में स्पष्ट रूप से पाई जाती है।

(५) वैदिक भाषा में अनार्य जातियों की भाषा से 'शब्द' तक ले लेना महर्षि जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन† में साफ़ लिखा है। तब वर्णों की तो बात ही क्या?

१—द्राविड़ी मूर्द्धन्य वर्ण कभी श्रुति-मधुर न रहे होंगे; न हैं। आर्यों ने उन्हें यदि लिया हो तो उसका कारण मनुष्य की अनुकरण-प्रवृत्ति है।

† चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन, मी० अ० १. पा० ३। १०। इस पर शबर-स्वामी की टीका देखने योग्य है।

उपर्युक्त कारणों से यह सिद्धांत सच्चा जान पड़ता है कि भारतीय आर्यों ने मूर्धन्य वर्णों को अनार्य जातियों की भाषा से आदिम काल में अपनाया, और उनके द्वारा अपनी भाषा का उत्तम संस्कार करके उसे सर्वांगपूर्ण भाषा बनाया।"

वैदिक काल में भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग कम था। वैदिक संस्कृत के शब्दों में मूर्धन्य वर्ण मध्यगया अंतिम ही होते थे। ह्विट्ने (Whitney) साहब अपने वैदिक संस्कृत के व्याकरण[1] में लिखते हैं :—

According to most scholars, they (cerebrals) are due to aboriginal, specially Dravidian influence (अर्थात् बहुत से विद्वानों का मत है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में देशी भाषाओं, खासकर द्राविड़ भाषाओं, के प्रभाव से आए हैं)

वैदिक संस्कृत में मूर्धन्य वर्णों के प्रयोग के संबंध में कुछ विस्तारपूर्वक लिखा जायगा। नियमतः वैदिक संस्कृत में 'ष' या 'र' युक्त दंत्य वर्णों से ही मूर्धन्य वर्णों की उत्पत्ति हुई है। परंतु व्यंजनों के पहिले तथा शब्दों के अंत में प्राचीन 'ज' 'श' 'ह' के स्थान पर भी मूर्धन्य वर्ण मिलते हैं। ह्विट्ने साहब के अनुसार:—

(अ) < <ष> >(=ष, श, ज) + < <-त-,-थ-< < > > >
ट-, > > < <ठ-, > >
< <वृष + ति > >(प्रत्यय)= < < वृष्टि- > >(=वर्षा)
< <दुस् + तर् > > > < <दुष्-टर > >(=दुस्तर)
< <वंश्--ति > > > < <वंष्--टि > > (He wishes)

(आ)

(१) 'र' युक्त दंत्य वर्णों का कदाचित् प्राचीन काल में मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तन नहीं होता था। जैसे:—

< <दृध्र' > > (=दृह्-त्र--) और < <दृढ > > (=दृह्--त--); 'ष्ट्' कई बार ऋग्वेद में आने पर भी [जैसे—राष्ट्र, देष्ट्री (नेत्री)

१—वैदिक ग्रामर § ४२।

दंष्ट्र] मूर्धन्य 'र' का अनुच्चारण ही प्रायः होता होगा। क्योंकि 'उष्ट्रानाम्' 'राष्ट्रानाम्' जैसे रूप भी मिलते हैं जिनमें 'र' का दंत्य उच्चारण ही था, क्योंकि मूर्धन्य उच्चारण होने पर 'उष्ट्राणाम्', 'राष्ट्राणाम्' रूप ही होने चाहिए थे।

(२) < <-र-,-ल- + दंत्य < < > मूर्धन्य

यह प्राकृतों के प्रभाव के कारण है।

< <कृर्त- > >, पर < <वि—कट- > > (=भयंकर)

< <कर्त- > > (=गर्त) पर < <काट- > > (=गहराई)

< <अवर् > > (नीचे) पर-अवर्ट > > (=गड्ढा)

(इ) मूर्धन्य-घटित शब्दों के अनुकरण पर, उपमानाभास (False analogy) के कारण कुछ शब्दों में मूर्धन्य उच्चारण होता है। जैसे :—

< <पर्श्- > > (=डोरी) > < <पड्वीस > > (बेड़ी) के अनुकरण पर < <पाड्-गृमि > > (नाम) एवं < <पड्भिस् > > (=पादों से)

< <'वांट्' > > और > > 'रांट्' > > जो घोषणा करने के लिये यज्ञों में प्रयुक्त थे, उनके अनुकरण पर < < 'वंक्षत्' > > और < < 'श्रोषत्' > > के लिये शायद < <वंषट् > > और < <'श्रौषट्' > > शब्द प्रयुक्त होने लगे हों।

(ई) मूर्धन्य 'ष' की जगह कहीं कहीं 'ट' या 'ड' मिलते हैं।

< <प्रुष् > > (छींटे मारना) > < <विप्रुट् > > (=बूँद)

< <द्विष् > > (घृणा करना) > < <एधमानद्विट् > >

(=धृष्टों से घृणा करना)

अनेक स्थलों पर तालव्य 'ज' 'श' एवं 'ह' का मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—

(१) शब्दों के अंत में (कर्ता कारक)

(क) भ्राज् > भ्राट्

राज् > राट्

विपा॑श् > विपा॑ट् (एक नदी का नाम)

वि॑श् < वि॑ट्

(ख) कर्त्ता एवं कर्म कारक में—ष॑ष् < ष॑ट्

(ग) प्रथमा विभक्त्यंत समासपद के पूर्व पद में

उदा०—< <ष॑ट्- > >, < <ष॑ड्- > > (< < <प॑श्- > > डोरी)

(घ) 'लुङ्' लकार के मध्यम एवं प्रथम पुरुष के रूपों में मूल तालव्य के स्थान पर और आख्यातों के लोप होने के बाद। जैसे—

√भ्रा॑ज्- > अ—भ्राट्

√य॑ज् > या॑ट्

√रा॑ज्- > रा॑ट्

√न॑श्- > नट्, आ॑-नट्

(२) व्यंजन प्रत्ययों के पहले

(क) 'भ' से आरब्ध विभक्ति-प्रत्ययों के पहले मूर्धन्य वर्ण देखने में आते हैं।

जैसे :—

< <पड्भिः > > < < < √प॑श्- > > (देखना)

< < विड्भिः > > < < < √वि॑श्- > >

< < सरड्भ्यः > > < < < सर॑ष् > >

(ख) सप्तमी बहुवचन के प्रत्यय < <सु > > के पहले जैसे—

< <धृ॑ट्-सु > >

(ग) 'लिङ्' लकार के एकवचन प्रत्यय < < धि > > के पहले।

जैसे :— < < दिदिड्ढिः > > < < < √दिश्- > >

(३) निम्नलिखित शब्दों में मूर्धन्य वर्णों के अस्तित्व के कारण सम्यक् रीति से बताए नहीं गए हैं :—

(क) < < दण्ड > > ग्रीक < < δs'νδρον > > (देन्ड्रोन्)

(ख) < < आघा॑टि- > >, < < आ-घाट् > > (अथर्ववेद) [= पीटनेवाला] ['आघात' रूप भी प्रयुक्त है]

(ग) < <इटंन्त > >(भटकता हुआ)

(घ) < <कुट- > >(घर); इस अर्थ में 'कुट' शब्द द्राविड़ी हो सकता है। कुट < कुटी < < <गुडि > > (कन्नड=मन्दिर) < < <गुडिसलु > >(क०=झोंपड़ी)

(ङ) < <कुट- > >(सामनेवाली हड्डी)

(च) < <कृपीट- > >(ईंधन)

(छ) < <मण्डूक- > >(मेंढक)

(ज) < <इट > >(अ० वे०) (नरकट)

(झ) < <ररांट > >(वाजसनेयि संहिता)

इनके अतिरिक्त 'ब' युक्त कुछ शब्दों को ह्विट्ने साहब अनार्य मानते हैं :—

(क) बट्, बड़ा (आश्चर्यसूचक शब्द)

< <डे; अडे, 'डी', > >(तमिळ् में किसी को बुलाने के लिये प्रयुक्त होते हैं)

(ख) < <वट्टरिंन > >(=चौड़ा)

(ग) < <बीरिट > >(=सेना)

(घ) बेकनाट (=usurer)

(ङ) < <आडम्बर > > (आडम्बर=आटाटोप)

(च) < <खड्ग > >(गैंड़ा)

(छ) < <चाण्डाल > > (अंत्यज)

(ज) < <मर्कट- > >(बन्दर)

आधुनिक भा० आ० भाषाओं में आदिष्ट मूर्धन्यीकरण

(Resultant Cerebralization)

आ० भा० आ० भाषाओं के उत्तरकाल से 'त्र, द्र' का मूर्धन्यीकरण उपलब्ध होता है।

[प्राकृत एवं पाली के व्याकरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्राकृत में तो दंत्य वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य वर्ण बराबर मिलते हैं, जैसे :—

प्रति > पडि

प्रथम > पढम

अर्धमागधी (या पूर्वी प्राकृतों में) मूर्धन्यीकरण (Cerebralization) और भी अधिक है। जैसे,

औषध > ओसढ (अ० मा०) ओसह (म० शौ०)। कितनी ही प्राकृतों में 'न' का 'ण' हो जाता है :—

नूनम् > णूणं

नयनम् > णअणं

इत्यादि]

इसके फल-स्वरूप पूर्वी भाषाओं में, म० भा० आ० काल के मध्य-काल तक < <र्त, र्द> >का < <ट्ट, ड्ड> >में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति वि० पू० तीसरी शताब्दी तक प्रचलित थी। परंतु उत्तर पूर्वकाल में 'र्त' 'र्द' अपरिवर्तित ही रहे। अन्य बोलियों में (जैसे मध्य देश एवं दक्षिण-पश्चिम की बोलियों में) उनका 'त्त द्द' में परिवर्तन हो जाता था। यह पूर्वी मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति बहुत काल तक पश्चिमी बोलियों में आने नहीं पाई। पाली या पूर्वी भाषा की सार्वभौमता ने और बोलियों में भी इस प्रवृत्ति का समावेश कर दिया। यह बात अशोक एवं कुषान राजाओं के पश्चिमी शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः 'अ-मूर्धन्य' प्रधान पश्चिमी, मध्यदेशी एवं उत्तरपश्चिमी भाषाओं में भी मूर्धन्यप्रधान शब्दों का अधिक संख्या में समावेश हो गया। पुरानी हिंदी के वीरगाथा साहित्य की भाषा में मूर्धन्य शब्दों का प्रचुर प्रयोग इसी कारण हुआ है। परंतु पूर्वी भाषा (पाली) की सार्वभौमता देश में बहुत दिनों तक न रही। मध्य देश की प्राकृत (शौरसेनी प्राकृत) ने इसका स्थान ग्रहण किया, जिसके कारण पूर्वी भाषाओं में भी अ-मूर्धन्य-युक्त रूपों के साथ ही साथ मूर्धन्य रूप भी चल पड़े।

मागधी या पूर्वी रूप[1]

मागधी या पूर्वी रूप [जैसे < <मृत् > > > < <मड > >, < <मृत्तिका > > > < <मट्टिका > > < <वृध,वर्ध > > >वड्ढ > > < <वर्त्मन् > > > < <वट्ट > >(वट्ट =मार्ग (कन्नड) >बाट (पू० हिं०) [(क०) महि (=अखाड़े की मिट्टी) √वड्ढ, (क०) वंड्डति (=जन्मदिवस)]। < <मट्टि, बर्ट्टि > >[ये शब्द कन्नड में भी प्रचलित हैं] पूरब में ही नहीं वरंच पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एवं पंजाबी जैसी भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त मागधी के विभिन्नरूप जैसे—

अर्ध >अद्ध ('आधा' हिं०)

सार्थ >सत्थ ('साथ' हिं०)

वर्त्तिका >वत्तिका ('बत्ती, बाती' हिं०)

बंग भाषा में भी बराबर मिलते हैं—

भर्त्ता >भट्टा, भट्ट [भाट (हिं०) तो ठेठ पूर्वी है]।

स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण

(Spontaneous Cerebralization)

मूल दंत्य वर्णों के कुछ शब्दों में मूर्धन्य हो जाने के कारण अब तक नहीं मालूम हुए हैं। 'र' या 'ल' रहित शब्दों में भी मूर्धन्यीकरण पाया जाता है। इसे आर्य-भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने (जैसे सु० कु० चटर्जी महोदय[2]) स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण के अंतर्गत माना है। जैसे—

सं० √डी, उत् + डी >उड्डी

... आति (जलपक्षी) >आटि, आडि

१—पाली में 'र' युक्त वर्ण के बाद के दंत्य वर्ण को मूर्धन्य में परिवर्तित कर देते हैं। जैसे—निर्गन्थ >निगण्ठ, कृत >कट, वृंत > वण्ट।

२—बंग० भा० उत्पत्ति एवं विकास—पृ० ४८७

... अतति > अटति (इत्यादि)

परंतु इनकी संख्या भा० आ० भा० में अधिक होती जाती है। दक्षिणपश्चिमी और उत्तरपश्चिमी अशोक के शिलालेखों में < <'द्वादस'> > (गिरनार) < <बदय> > (वदज़, शहबाज़गढ़ी) [मान्सेरा के शिलालेख का < <दुवाडस> > पूर्वी रूप है] मिलते हैं। परंतु इन्हीं के मूर्धन्य रूप पूरब में प्राप्त होते हैं; जैसे—< <दुवाडस> >।

पंजाबी एवं सिंधी के < <'पवे', 'पए'> > (< *पअइ < *पददि < पतति) रूपों की पूरबी एवं मध्यदेशीय (बंग, बिहारी पूर्वी हिंदी इत्यादि) < <पड़े> > (< पड़इ < *पड़दि < *पटति < पतति) जैसे रूपों से तुलना करने से मालूम होता है कि स्वत:प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण पूरबी और संभवत: मध्यदेशीय भाषाओं की प्रवृत्ति थी। पश्चिमी एवं अन्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति नहीं थी (जैसे—पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी एवं सिंधी)। कुछ जगहों पर एक ही शब्द दो रूपों में प्रचलित हैं; जैसे—(हिं०) खाड़ी; खाई (बं०)। मध्यग 'न' एवं 'ल' का 'ण' एवं 'ळ' होने की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषाओं के उत्तर काल में सभी बोलियों में प्रचलित थी। परंतु इस प्रवृत्ति का मध्यदेश एवं पूर्व (उड़ीसा को छोड़कर) में लुप्त होकर केवल पश्चिमी (पश्चिमी एवं पूर्वी पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी और अंशत: सिंधी) भाषाओं में अब तक रहना आश्चर्य की बात है। स्वत:प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण में उपमान[1] और देशीयता दोनों ने अवश्य कुछ न कुछ काम किया है। उदा०—

*षष्-दश > *षष् दश > षोडश

त्रयोदश > तेडस > तेरह

इन्हीं के सदृश—

एकादश > *एगाडह > एगारह < ग्यारह

द्वादश > दुवाडश > बाड़स > बारह

१—Analogy.

इसी अनुरूपता के कारण मागधी में—

मृत, कृत > मट, कट > मड कड और इन रूपों के अनुकरण पर

गत > गट > गड रूप भी बना।

परंतु उपमानाभास (False analogy) और देशीपन निम्नलिखित शब्दों के मूर्धन्यीकरण में उत्पादक कारण नहीं हो सकते।

< < पतति > *पटति >, पडइ > पड़ै > > (हिंदी)

सप्तति > *सत्तटि > *सत्तडि > सत्तरि > सत्तर (हिं०)

√दंश > (म० भा० आ० भा०) दंस > √डँस (हिं०)

उपर्युक्त शब्दों में मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के विनिमय का कारण कुछ ठीक नहीं बताया जा सकता है। न उपर्युक्त उदाहरणों में दर्शित इस प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का ही प्रभाव पड़ा है क्योंकि द्राविड़ भाषाओं में दंत्य एवं मूर्धन्य वर्णों का परस्पर विनिमय होता ही नहीं।

आ० भा० आ० भाषाओं के अनेक शब्द स्पष्टतया देशज हैं। यह ध्यान देने की बात है कि मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं में शब्दों के आदि में अपेक्षाकृत कम होते हैं; शब्दों के मध्य तथा अंत में ही उनका प्रयोग अधिकतर देखा जाता है। संभवतः कोल या प्राचीन कोल भाषा में शब्दों के आदि में मूर्धन्य वर्ण रहे हों। हो सकता है कि आ० भा० आ० भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य देशज शब्दों के मूर्धन्य वर्ण "मूल दंत्य + < < र > >" के कारण आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में समानतया आ गए हों। हो न हो, म० भा० आ० भा० एवं आ० भा० आ० भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य-घटित शब्दों की तह में अनार्य, या आर्यों से पहलेवाली भारतीय जनता की भाषाओं का स्रोत गुप्त रूप से बह रहा हो[1]।

हिंदी में प्रयुक्त द्राविड़ भाषाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

१—सु० कु० चटर्जी की 'बंग भाषा की उत्पत्ति एवं विकास' पुस्तक, पृष्ठ ४८७-६।

हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य-वर्णघटित कुछ शब्द

(१) टका (=दो पैसा) <टंक [कन्नड < <टंक साले> > टकसाल]।

(२) टाँग (=पैर) [(कन्नड) < <टाँग कोडु वुदु> >= एक दूसरे की टाँग में टाँग अड़ाकर पृथ्वी पर गिराना]।

(३) टक्कर (टक्कर मारना) [(कन्नड) < < टक्कर होडे-युवुदु > >=टक्कर मारना]।

(४) टुकड़ा (खंड) [(कन्नड) < <टुकड़ा, तुकड > >= खंड]।

(५) टोपी [(कन्नड) < <टोपी > >]।

(६) टहलना [(कन्नड) < <टलायि सुवुदु > >]।

(७) आटा—इस प्रचलित शब्द की व्युत्पत्ति 'शब्दसागर' में (सं०) अर्द (जोर से दबाना) से सूचित की गई है। परंतु यह (प्रा०) अट्ट से व्युत्पन्न हो सकता है। और (प्रा०) < < अट्ट> > द्राविड़ शब्द है क्योंकि उसके रूप आज भी दक्षिणी भाषाओं में चल रहे हैं। जैसे :—

(क०) < <√अडु > > (=पकाना) > < <अट्ट> > (पकाया हुआ) जैसे:— <अट्ट हरळु > >=(पकाई हुई रेंडी)।

(तु०) < <अट्टिल> >=पकाना।

(ते०) < <अट्टु > >: (लोहे के तवे पर पकाया हुआ नमकीन अपूप)।

(८) पट्ट, पट्टा [पट्ट—टसर का या रेशमी कपड़ा]।

पट्टा—कोई अधिकार-पत्र या सनद, कुत्ते या बिल्ली के गले में पहनाने की लौह-शृंखला।

यही शब्द 'पाट' के रूप में 'सन' के अर्थ में भी प्रचलित है। कन्नड में > पट्टे नारु > >या > > पट्टे मडि> >सन के कपड़े को

कहते हैं। कन्नड में > > पट्ट > > सनद (document) के अर्थ में भी आता है। इसी से निम्न—(क०) > > पटेल > > (=लगान वसूल करनेवाला, सरकारी कर्मचारी) शब्द भी बना है।

(९) लंगोट [सं० लिंगपट] (कन्नड) लंगोटि।

(१०) कोठी[1] [(कन्नड) > > कोटे > > (किला)] जैसे:—

ऊरू होद मेले कोटे बागिलु हाकि दरु > > (कहावत)

[नगर के लूटे जाने पर किले का फाटक बंद कर लिया।]

(११) घाट [> सं० घट्ट] जैसे—दशाश्वमेध घाट (कन्नड) > > घट्ट > > जैसे (१) > > स्नान घट्ट > > (२) तंग पहाड़ी रास्ता, चढ़ाव उतार का पहाड़ी मार्ग—जैसे—"है आगे परबत की बाटैं। विषम पहार अगम सुठि घाटैं।" —जायसी।

(कन्नड) < < घाटी > > =(तंग पहाड़ी रास्ता) जैसे— < < बिसले घाटि, आगुम्बे घाटि > > (पश्चिमाद्रि की उपत्यका में स्थित स्थान)

(क०) < < घट्ट > > (=पहाड़) जैसे < < पश्चिम घट्ट > > (=पश्चिमाद्रि)

< < घट्टक्के होगि उप्पु तरुवुदु > >

[पहाड़ ही जाकर नमक ख़रीदना; उत्पत्ति-स्थल पर जाकर वस्तु लाना]

(१३) हट्ट (बाज़ार) [> सं० हट्ट]

(कन्नड) हट्टि—लक्षणा द्वारा—(क) बाज़ार

(ख) घर (ग्रामीण)

(ग) आँगन (,,)

१—कोट्टम् नगर के अर्थ में प्राकृत में भी प्रयुक्त था जिसको हेमचंद्र ने देशी बताया है—उदा०—

"मंरणति हरिय कोट्टा तुहरि उणे कोघ मघणायं।"

(देशी नाममाला—२-४५)

(क) हट्टि (=बाजार) उदा० :—

< < हट्टोलि हुट्टिट्टल्ल, क्रयक्के कोण्डद्दल्ल > >

(कहावत)

=(बाज़ार की न पैदा हुई, न दाम देकर खरीदी हुई वस्तु अर्थात् विचित्र वस्तु)

(ख) घर < < हट्टिगे गतियिल्लदव मठकट्टियाने > > (=जिसका घर तक नहीं वह मठ क्या बनवाए ?)

(ग) आँगन— < < परमगतिये बुदु नेरे मने हट्टियो ? > > =परमगति या मोक्ष क्या पड़ोसी के मकान का आँगन है ?

हमारी राय में यह शब्द द्राविड़ी है और < < √अट्टु > > (क०) [=गाय या दूसरे चौपायों को भगाना] से हट्टि (जिसका ग्रामीण उच्चारण आजकल भी 'अट्टि' ही होता है) बना है, जिसका अर्थ है 'जहाँ गायें भगाई जायँ'।

(१४) < < पेट > > (< आ० पोट्ट)—हेमचंद्र ने इसे देशज माना है। 'हिंदी शब्दसागर' में इस शब्द की व्युत्पत्ति (सं०) पेट (थैला) शब्द से मानी गई है। कन्नड में < < पोट्टे > > का अर्थ खोखला है। पुरानी कन्नड में 'पोट्टे' 'उदर' के अर्थ में आता है। मराठी में इसके 'पोट' तथा तेलुगु में पोट्टे रूप हैं। अतः संभवतः (हिं०) पेट द्रा० < < पोट्ट > > से ही व्युत्पन्न है।

(१५) √चाट—(जीभ चलाने का शब्द)

[< < √चष् जैसे चषक् > > (मदिरा, प्याली) ?]

तेलुगु > > चाट > > इसी अर्थ में प्रचलित है।

(१६) कूटना [> सं० कुट्टन] > (क०) > कोट्टण 7 > (क०) √कुट्टु (=√कूट) पर 'कुट्टन' शब्द ही द्राविड़ है।

√कुट्टु [क० त०, ते०, तु०, मल०] (=कूट)

> > कोट्टण > > = चावल कूटने का काठ का टुकड़ा।

(१७) मोटा ('मोट' का विशेषण) (कन्नड) मोट्टु > > =नाटा

(१८) ठगना [हिं० √ठग > (सं०) √स्थग]

(पु० कन्नड) < < टक्कु > > = धोखा

(क०) < < ठक्करु > > = (हिं०) ठग लोग

यह शब्द भी द्राविड़ है।

(१९) सोंठ [< सं० शुण्ठी]

(कन्नड) < < सुण्ठि, सोण्टि > >

(२०) गाँठ [< सं० ग्रंथि]

(कन्नड) < < गण्टु > >

(२१) डोम [> सं० डम ?]

(कन्नड) < < डोम्बरू > > = सँपेरे

[दे० < < डोम्ब विद्द > > (यक्षिणी विद्या)]

(२२) डिबिया < डिब्बा

(कन्नड) < < डब्ब > >

(२३) जाड़ा [< सं० जाड्य]

(पु० क०) < < जड > > (= रोग)

(२४) उड़िया < ओड्डिअअं > औड्रीयक (?)

(सं०) ओढ़ू देश = (क०) < < ओड्डुरदेश > >

(मज़दूरों का देश)

(२५) खिड़की [< (सं०) खटक्किका]

(कन्नड) < < किडिकि > >

सभी विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि आर्यभाषाओं की मूर्धन्य ध्वनियों पर द्राविड़ भाषाओं के मूर्धन्य वर्णों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है।

मेरी समझ में भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं से ही लिए गए हैं जिनके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) प्राचीन भारत-यूरोपीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण नहीं थे। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी का यह कहना कि "ग्रीक आर्यों की भाषा में 'ट' और 'ड' ही हैं, 'त' और 'द' का सर्वथा अभाव है, एवं सेमेटिक अनार्यों की लिपियों में मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव

पाया जाता है", बाबू जगन्मोहन वर्मा की दलील का यथोचित उत्तर नहीं है। मैं यह नहीं मान सकता कि ग्रीक आर्यों की भाषा के 'ट' और 'ड' शुद्ध मूर्धन्य हैं। जहाँ तक मैंने देखा है, इटली का कोई भी निवासी, जो भारत में आता है, मूर्धन्य वर्णों का ठीक उच्चारण नहीं कर पाता। उसके 'ट' का उच्चारण 'त' एवं 'ट' के बीच का मालूम होता है, जिसको वह दाँतों से जीभ को दबाकर करता है। सारांश यह कि ग्रीक-भाषा-भाषी मूर्धन्य वर्णों का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते जितना भारतीय लोग। यह ध्यान देने की बात है कि ग्रीक लोगों का 'ड' का उच्चारण < <'δ'> >से ही[1] नहीं बना है किंतु 'ρ' से भी[2] बना है; और ये वर्ण शुद्ध मूर्धन्य नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि द्राविड़ भाषाओं को सेमेटिक अनार्य भाषाओं की तुलना में रखने का ज़माना अब नहीं रहा। आजकल द्राविड़ भाषाएँ स्वतंत्र परिवार की भाषाएँ मानी जाती हैं। (भारतीय-ईरानी भाषाओं में भी मूर्धन्य वर्ण नहीं है।)

सुनीतिकुमार चैटर्जी का स्वतः-प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण सिद्धांत मैं नहीं मान सकता। किसी भी ध्वनि का उच्चारण स्वतःप्रवृत्त नहीं हो सकता; किंतु वह अनुकरण द्वारा होता है। यदि भारत में आए हुए आर्यों में मूर्धन्य वर्ण स्वतःप्रवृत्त हो सकते हों तो भारतीय ईरानी भाषा में भी मूर्धन्य वर्ण स्वतः क्यों नहीं उत्पन्न हुए? इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि मूर्धन्य वर्णों से मिलते-जुलते कुछ दंत्य वर्णों का उच्चारण करनेवाली आर्य जनता जब स्पष्ट कर्कश मूर्धन्य उच्चारण अधिक मात्रा में करनेवाली द्राविड़ जनता के संपर्क में आई तब आर्य भाषाओं के उन वर्णों ने स्पष्ट मूर्धन्यों का रूप धारण किया। यदि यह बात नहीं होती तो प्रा० भा० आ० भाषाओं (वैदिक संस्कृत आदि)

१—जैसा श्री म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी ने लिखा है।

२—Giles—Comparative Philology, London 1901.

में 'ष[१]' या 'र[१]' युक्त दंत्य वर्ण ही नियमतः मूर्धन्य वर्णों में क्यों परिवर्तित होते ? (As a rule they have arisen im-

---

१—द्राविड़ भाषाओं में 'ऴ' और '.' स्पष्ट मूर्धन्य ही हैं। मुझे तो तमिळ् < <'ऴ'> > के लिये < <ष़> > चिह्न ही अधिक संगत मालूम होता है। परंतु 'ऴ' चिह्न इसलिये रखा है कि तमिळ का 'ऴ' कन्नड के 'ळ' में परिवर्तित हो जाता है। प्रा० द्रा० 'ऴ' एवं 'ऱ' के कर्कश उच्चारण ही के प्रभाव से वैदिक संस्कृत में "< <'ष,' या 'र'> > + दंत्य" का "मूर्धन्य" में परिवर्तन हुआ।

तमिळ् 'ऴ' का तेलुगु में 'ड' प्रायः हो जाता है।

तमिळ्	तेलुगु
< <कळु.वु> > (धोना)	> कडुगु
अळै. (बुलाना)	> अडुगु
पाऴ (खँड़हर)	> पाडु
शुळि. (> जलना)	> सुडु
ऊळि.य (सेवा)	> ऊडिग

प्राच्य भाषाओं में < <'दंत्य + र' को मूर्धन्य करने की प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं के निम्नलिखित कर्कश संयुक्त व्यंजनों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है।

(क) तमिळ् का < <न् ऱ्> > जो कन्नड और तेलुगु में कहीं < <एट> > और कहीं < <एड> > भी होता है। जैसे—

(त०) < <ओनऱि> > > < <ओएिड> > (क० ते०) = अकेला

(त०) < <तिन्ऱि> > > तिएिड (,, ,,) = जलपान

(ख) तमिल का < <ऱ्ऱु.> > जो कन्नड एवं तेलुगु में कभी 'त' और कभी 'ट' हो जाता है। उदा० :—

तमिळ्	कन्नड	तेलुगु
शुऱ्ऱु. (चक्कर काटना)	> सुत्तु	चुट्टु
माऱ्ऱम् (बात)	> मातु	माट
शिऱ्ऱेलि (चुहिया)	> कित्तिलि	चिट्टेलुक

mediately after 'ṣ' or 'ṛ' sound from dentals—Whitney, Vedic Gr. Page 32)। पुरानी ग्रीक 'ρ' (=र) से जैसा आधुनिक ग्रीक में मूर्धन्य उच्चारण से मिलता-जुलता हुआ 'ड' वर्ण निकला उसी प्रकार यह मूर्धन्यीकरण, आर्य भाषाओं की अपनी प्रवृत्ति एवं भारत जैसे उष्ण देश में रहनेवाले (जहाँ विवृत उच्चारण की ओर जनता की प्रवृत्ति अधिक होती है) मूर्धन्य-वर्ण-प्रधान द्राविड़ भाषा-भाषियों के संसर्ग से हो गया होगा। संस्कृत में तो यह नियम ही बना कि 'र' या 'ऋ' युक्त शब्दों के 'न' का 'ण' होता है। परंतु ' < < ष > > दंत्य वर्ण' घटित शब्दों के दंत्य वर्णों का मूर्धन्य वर्ण होना तो भारतीय आर्य भाषाओं में ही पाया जाता है। प्राचीन ग्रीक भाषा के " < < σ > > (सिग्मा) + दंत्य" घटित शब्द लैटिन भाषा के रूपों में संघर्षी ही पाए जाते हैं। उदा०—

(ग्रीक) στο's > (लैटिन) (vīsus)

(इस्तोष्)

(ग्रीक) κυ'σθος (कस्थोस्) > (") custos

वैदिक संस्कृत में मूल 'ज' 'श' या 'ह' के स्थान पर कहीं कहीं मूर्धन्य वर्णों के दिखाई पड़ने का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। इस प्रवृत्ति पर अवश्य ही द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। सारांश यह कि भारत में 'उष्ट्र' (> उट्ठ) > ऊँट (क० 'ओंटे') हुआ न कि 'उश्तर'। इससे मालूम होता है कि प्रा० भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों से मिलते जुलते हुए वर्ण भारत में द्राविड़ भाषाओं के संपर्क में आकर मूर्धन्य बन गए।

प्रा० भा० आ० भाषाओं में (वैदिक संस्कृत में) शब्दांत्य 'च' 'ज' के 'ट' होने का कारण चैटर्जी के मतानुसार उपमानाभास (false analogy) है।

(२) द्राविड़ भाषाओं के अनेक मूल धातुओं में मूर्धन्यवर्ण प्रधानतया उपलब्ध होते हैं। और इन मूर्धन्य वर्णों की आवश्यकता इस

बात से स्पष्ट समझी जा सकती है कि उनमें तथा अन्य दंत्य-वर्ण-प्रधान मूल धातुओं में अंतर स्पष्ट करने में वे सहायक होते हैं।

परंतु आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण युक्त मूल धातुओं की तलाश में व्याकरण के पृष्ठ उलटने की आवश्यकता पड़ती है।

द्राविड़ भाषाओं के ध्वनि-समूह में मूर्धन्य वर्णों का कितना प्रधान स्थान है यह निम्नलिखित मूल शब्दों (धातुओं एवं संज्ञाओं) से स्पष्ट हो जायगा।

(साथ ही यह भी देखने योग्य है कि मूर्धन्य एवं दंत्य वर्णों का भेद कितने स्पष्ट रूप से द्रा० भा० में किया जाता है।)

कुछ प्राचीनतम द्राविड़ धातु

√कुदि (त० ते०)=कूदना

√कुडि (,, क०)=पीना

√पुदै (त०) छिपना < < < पोदे > > (क०) झाड़खंड

√पुडै (,,) बीनना < < < पोडेपु > > (तु०)

< < √कत्तु > > (त०) गड़बड़ करना > > < < गद्दल > > (क०) शोरगुल

√कट्टु (त० ते० क०) बाँधना

< < √कोत्तु > > (त०) खोदना

√कोट्टु (त०)=बजाना

√अरि (त० क०)=पीसना

√अऱि (,, ,,)=जानना

√अऴि (,, ,,)=नष्ट करना, [पोंछना (क०)]

√एन् (त० क०)=कहना

√एण् (,, ,,) गिनना

√अरु (त०)=थोड़ी मात्रा में रहना

√अऱु (,,)=काट डालना

√अळु (त० क०)=रोना

{ √कोल् (त० क०)=मारना
{ √कोळ् (त० क०) लेना [खरीदना (क०)]

{ √तुलै (त०) अंत करना
{ √तुळै (,,) रौंदना [(क०) < <तुळि> >]

(३) द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों की नित्यता (permanence) के उदाहरण परिशिष्ट में दिए गए हैं। इन उदाहरणों से ही थोड़ा बहुत पता लग सकता है कि द्राविड़भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों का कितना प्राचुर्य है।

द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण अधिकतर उसी वर्ग में परिवर्तित होते हैं। अन्यवर्गीय व्यंजनों का उनकी जगह आदेश नहीं होता। परंतु भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्योच्चारण गृहीत होने के कारण कर्कश मूर्धन्यवर्णों को मृदु—दंत्य 'र', 'ल'—बनाने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में नहीं है।

भारतीय आर्य भाषाओं में 'र' 'ल' 'ळ' वर्ण

वैदिक संस्कृत में 'ल्' के अतिरिक्त एक 'ळ्' भी था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वैदिक भाषा में मध्यग < <ड> > एवं < <ढ> > का 'ळ' एवं 'ळह' मिलता[१] है। 'ळ्' या 'ळह्' यूरोपीय या ईरानी आर्यभाषाओं में नहीं हैं परन्तु तमिळ् भाषा में (जैसा उपर्युक्त विवरण में कहा गया है) '< < ऌ < <' एवं < <'ळ्'> > इन दो मूर्धन्य वर्णों का आजकल भी प्रयोग होता है और तेलुगु के अतिरिक्त अन्य सब द्राविड़ भाषाओं में अब < <ळ> > प्रयुक्त होता है। वैदिक < < ळ् > > संभवतः द्राविड़ भाषाओं से लिया गया है जिसका महाप्राण

१—म० भा० आ० भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति थी—जैसे पाली मेंः—

'ड' का 'ळ' में परिवर्तन :—वैडूर्य्यं < वेळुरियं [पा० पाठावली पाठ १४]

क्रीडति < कीळति [,, २४]

'ळ' का 'ळह' में परिवर्तन :—दृढ़ < दळह [पा० पा० पाठ १६]

आसाढ़े < आसाळिह [,, ,, २४]

[< <ळह् > >] रूप वैदिक संस्कृत का अपना है क्योंकि द्राविड़ भाषाओं में महाप्राण (तो क्या 'ह' वर्ण तक) नहीं थे।

वैदिक < <ळ्ह > >का ही परिवर्तित रूप पाली से होते हुए आजकल भा० आ० भाषाओं में 'ढ़' के रूप में पाया जाता है।

हॉर्नले साहब ने (गाडीय भाषाओं का व्याकरण पृष्ठ १२) इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि पूर्वी एवं उत्तरी भा० आ० भाषाओं तथा सिंधी में 'र' वर्ण दंत्य है, और अर्धमूर्धन्य नहीं है। परंतु हिंदी, पंजाबी, लहंदा, गुजराती, राजस्थानी एवं मराठी में यह ध्वनि आजकल भी अर्ध-मूर्धन्य है, जैसे संस्कृत, शौरसेनी एवं मागधी प्राकृतों में प्रचलित था। मागधी प्राकृत में इसी अर्धमूर्धन्य 'ड़' का (जिसका कैथी लिपि) में 'न' चिह्न है जो दंत्य 'ल' का ही विकृत रूप है) दंत्य 'ल' में परिवर्तन हो जाता है। पश्चिमी भा० आ० भाषाओं में भी 'र' एवं 'ल' का विकल्प से विनिमय हो जाता था। यह प्रवृत्ति दर्द भाषाओं तक में पाई जाती है। अत:—

पू० आ० भा० आ दंत्य < <'र' > > < मा० प्रा० > > 'ल' > > शौ० प्रा० 'र' (मूर्धन्य) यही प्रवृत्ति आजकल पूरब में < <ड > को 'ड़' तथा 'र' तक कर रही है। जैसे :—

(सं०) < <वट > > (अप०) < <वड > > > (हिं०) < <बड़ > > > (पू० हिं०) < <बर > >इसी को हम दंत्यीकरण (Dentalization) कहेंगे, जिसका प्रभाव तेलुगु भाषा पर खूब पड़ा है।

इसके विपरीत मराठी एवं पश्चिमी भा० आ० भाषाओं में (एक सिंधी के अतिरिक्त) संस्कृत का अर्धमूर्धन्य 'र' सुरक्षित है जो दंत्य 'ल' में परिवर्त्तित नहीं होता। इन भाषाओं में 'ड' एवं 'ड़' भी प्रचलित हैं जिनका अन्योन्य वैकल्पिक आदेश भी होता है। यह ध्यान देने की बात है कि पूर्वी आ० भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य < <ड > > को दंत्य < <'र' > > करने की प्रवृत्ति है परन्तु 'र' का कभी भी 'ड़' में परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत पश्चिमी आ० भा० भाषाओं

में अर्धमूर्धन्य < < र > > का और अधिक मूर्धन्यीकरण करके 'ड़' बनाने की प्रवृत्ति है, पर 'ड' का 'र' पश्चिम में बहुत कम होता है। उदाहरण :—

(क) (सं०) √पत् > (अप०) √पड् - > (पू० आ० भा० आ० भा०) < < √पड़ > > या < < √पर > >; (प० आ० भा० आ० भा०) < < √पड़ > > या < < √पड > > (परंतु < < √पर > > रूप कभी नहीं होगा)।

(ख) सं०) मार्जारिक: > (अप०) मज्जारिउ > (पू० आ० भा० आ० भा०) < < मँजारा > >, परंतु < < मंजाड़ा > > रूप कभी नहीं होगा। (प० आ० भा० आ० भा०) < < मंजारा > > या < < मंजाड़ा > >।

मराठी, गुजराती, पंजाबी एवं अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में "'ल' > 'ळ'।" पर हिंदी में यह ध्वनि नहीं है। अतः मूल दंत्य 'ल' के स्थान में हिंदी में < < ळ > > न होकर वर्त्स्य < < र > > हो जाता है। उदा०—

सं०	अप०	आ० भा० आ० भाषाएँ
√श्लाघ्	> सलाहा	> (हिं०) सराह, पर (सिंधी) सराहूअ (दंत्य 'र')
दुर्ललित:	> दुल्ललिउ	> (हिं०) दुलारू पर (बि०) दुलार (दंत्य र), (बंग०) दुलाल
शाल्मलि:	> सांवँली	> (हिं०) सेमर (म०) सांवूअरी

(४) द्राविड़ भाषाओं में < < ड़ > > और < < ढ़ > > ये ध्वनियाँ नहीं हैं।

आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों के परिवर्तन के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये ध्वनियाँ द्राविड़ भाषाओं में जितनी स्थायी रही हैं उतनी स्थायी आर्य भाषाओं में नहीं रही हैं। मध्यग 'ड' एवं 'ढ' को मुख-सुख के लिये 'ळ' 'ळह' करने की जो प्रवृत्ति वैदिक तथा प्राकृत काल में रही उसी से

मालूम होता है कि 'ड' एवं 'ढ' ये दोनों आर्य भाषाओं की अपनी ध्वनियाँ नहीं[१] थीं। मेरी समझ में 'ड' द्राविड़ भाषाओं से लिया गया और उसका महाप्राण उच्चारण आर्यों ने उसी समय कर दिया जिस समय भारतीय ईरानियों का संपर्क एवं संस्कार भारतीय आर्यों पर बना था। मध्यग 'ड' एवं 'ढ' का उच्चारण बदलने की यही प्रवृत्ति 'ड़' और 'ढ़' में भी पाई जाती है। परंतु द्राविड़ भाषाओं में यह बात नहीं है।

(५) द्राविड़ भाषाओं के संपर्क में आकर भारतीय आर्यों ने केवल 'ट' 'ड' 'ण' इन मूर्धन्य वर्णों का स्पष्ट उच्चारण सीख लिया। 'ठ' 'ढ' का उच्चारण 'ट' एवं 'ड' का महाप्राण मात्र है जो आर्यों ने स्वतः बना लिया। 'ण' एवं 'ळ' का परस्पर परिवर्तन द्राविड़ भाषाओं की प्रवृत्ति है जो म० भा० आ० भाषाओं की सभी बोलियों में प्रचलित हो चली[२]। गुजराती, मराठी आदि बहिरंग भाषाओं में (जिनका द्राविड़ भाषाओं से एवं आपस का संपर्क बना रहा) अब भी 'ळ' ध्वनि प्रचलित है। 'ळ' की और कर्कश 'ऴ' ध्वनि,

---

१—< <ड> > > < <'ळ'> > द्राविड़ भाषाओं में भी कहीं कहीं मिलता है। उदा०—

(त०) < <नाळु> >(तें०) नाडु (=दिन)

(त०) 'गोळ्' (तें०) < <गोडु> >

(राम कहानी)

< <ढ> > > 'ळ्ह' यह परिवर्तन द्राविड़ भाषाओं में नहीं हैं क्योंकि उनमें महाप्राण नहीं हैं।

< <ळ> > <ड यह परिवर्तन केवल द्राविड़ भाषाओं में उपलब्ध होता है, आर्य भाषाओं में नहीं।

जैसे—(त०) < <कळै> > (=काई)>(तें०) < <गडचु> >

२—उदा०—पाली में < <वेणुवने> > > < <वेळुवने> >।

एवं मूर्धन्य 'र' की कर्कश ध्वनि 'ऱ' द्राविड़ भाषाओं में ही देखने में आती हैं; भारत की किसी अन्य भाषा में नहीं।

(६) सुनीतिकुमार चैटर्जी आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों की उत्पत्ति दो प्रकार से मानते हैं।

(क) फलित मूर्धन्यीकरण (Resultant Cerebralization) जिसमें दंत्य या (तालव्य) वर्णों के मूर्धन्यों से मिलते जुलते हुए उच्चारणों (ष, र) के सम्पर्क से दंत्य वर्णों का भी मूर्धन्यीकरण हुआ है। परंतु इस अभ्युपगम (hypothesis) के फलस्वरूप आजकल की राजस्थानी सिंधी एवं पंजाबी में जो मूर्धन्योच्चारण का आधिक्य है उसका कारण उनको नहीं मालूम हुआ है। मैं समझता हूँ कि मूर्धन्यीकरण की यह प्रवृत्ति किसी प्रदेश की न रही, किंतु जहाँ आर्य-द्राविड़ भाषाओं का संपर्क अधिक था वहीं यह प्रवृत्ति भी देखने में आई है। मोहञ्जोदड़ो की खुदाई के सम्बन्ध में अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनसे मालूम होता है कि भारत के पश्चिम प्रदेश (पंजाब) में द्राविड़ों का काफ़ी प्राबल्य था। इसके विपरीत पूर्वी भाषाओं का दंत्योच्चारण का पक्षपात तो प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध[१] है। [दे० "पूर्व्या: हेलयोहेलय: कुर्वन्ति"]

मागधी अपभ्रंश का निरर्थक 'इल्ल', 'अल्ल' प्रत्यय एवं आजकल की मैथिली एवं बंगाली की 'ल'कारांत क्रियाएँ इसी बात की द्योतक हैं कि पूर्वी देशों में चिरकाल से दंत्योच्चारण की ओर प्रवृत्ति रही है न कि मूर्धन्योच्चारण की ओर। पश्चिम के ही मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति के प्रभाव से हिंदी के वीरगाथा काल के साहित्य में मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता उपलब्ध होती है।

(ख) स्वत:प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण का सिद्धान्त ही बड़ा विचित्र है। इसके पक्ष में सुनीतिकुमार चैटर्जी ने जो कुछ लिखा है वह सर्वमान्य नहीं हो सकता।

१—आजकल भी पूरब में 'ड़' को 'र' और 'र' को 'ल' करने की प्रवृत्ति है पर 'र' को 'ड़' करने की प्रवृत्ति नहीं जैसे गुजराती एवं मराठी में है।

द्रा० भाषा में 'द' का 'ड' बराबर होता है; जैसे (क०) < < दोळ्ळु > > > < < डोळ्ळु > > (बड़ा तोंद)। हो सकता है कि इस प्रवृत्ति ने भी 'दंश' के (हिं०) < < डस > > में परिवर्तन करने में कुछ काम किया हो।

इसी प्रकार (सं०) पतति > पटइ > पडइ > पड़इ > पड़ै रूप भी हुआ।

इसी प्रकार के परिवर्तन के सम्बन्ध में चैटर्जी महोदय ने स्वतः-प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति मानी है।

उपर्युक्त चर्चा से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्रा० भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों से मिलती जुलती ध्वनियाँ मूर्धन्य-प्रधान द्राविड़-भाषाओं के सम्पर्क में आकर शुद्ध स्फुट मूर्धन्य हो गईं जिनका उच्चारण म० भा० आ० भाषा काल में अधिक हुआ। वर्तमान समय में पंजाबी, सिंधी, गुजराती, एवं राजस्थानी भाषाओं में यह प्रवृत्ति है। राजस्थानी के संपर्क से हिंदी में मूर्धन्योच्चारण बना रहा है और इस अंश तक हिंदी भी द्राविड़ भाषाओं की ऋणी अवश्य है।

—— ——

(३) राष्ट्रभाषा की परम्परा

(संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश)

[लेखक—श्री चन्द्रबली पांडेय एम० ए०]

भारत की पतित दशा को देखकर किसी को इतना कहने का भी साहस नहीं होता कि भारत आज से नहीं, कल से नहीं, बल्कि न जाने कितने युगों से एकता के सूत्र में बँधा चला आ रहा है और फलतः आज भी प्रत्येक हिंदू प्रतिदिन और प्रतिघड़ी 'संकल्प' में 'जम्बूद्वीपे भरतखंडे' का उद्घोष करता तथा 'अभिषेक' में देश की समस्त पूत नदियों का नाम लेता है। इतना ही नहीं, अपितु अपने जीवन में कम से कम एक बार भारत-भ्रमण अथवा देश के संपूर्ण तीर्थों का अवगाहन तथा चारों धामों की यात्रा अपना परम धर्म समझता है। फिर भी प्रमाद अथवा व्यामोह-वश दावे के साथ यदि यह पटु घोषणा की जाती है कि इसलाम के पहले भारत में कभी राष्ट्रभावना का उदय अथवा एकता का संपादन न हुआ तो इसके लिये हमारे पास दवा ही क्या है? किस प्रकार हम इस प्रकार के ज्ञानबंधुओं को सुझा सकते हैं कि भारत सदा से एकता में अनेकता का निर्वाह एवं अनेकता में एकता का विधान करता आ रहा है। 'एकोऽहम् बहु स्याम' की भावना और 'नेह नानास्ति किंचन' के निष्कर्ष में विदेशियों को विरोध दिखाई दे सकता है पर भारतीयों के लिये इसमें तनिक भी दोष लक्षित नहीं होता। यही उनका भजन तथा आत्मिक भोजन है।

समन्वय तथा सामंजस्य के आधार पर भारतवासियों ने भाषा के प्रश्न को भी निहायत आसानी से सुलझा लिया था। संस्कृत को 'प्रकृति' तथा अन्यों को 'विकृति' मान कर एक को अनेक कर दिया और फिर अनेक में से एक को प्रधानता दे उसे चलित राष्ट्रभाषा के रूप में

अपना लिया। इस तरह भाषा का प्रश्न स्वतः हल हो गया। विनाश किसी का नहीं, पर विकास सब का हुआ।

इसलाम के भारत में जम जाने तथा उसके बाद फिरंगियों के प्रबल हो जाने से 'भाषा' की प्रवृत्तियों में जो परिवर्त्तन हुए उनके निदर्शन तथा परितः परिशीलन के लिये उसकी परम्परा से भली भाँति परिचित हो जाना अनिवार्य है। अतएव यहाँ पर थोड़ा 'भाषा' की परंपरा पर विचार किया जायगा और यह स्पष्ट दिखा देने की कुछ चेष्टा की जायगी कि किस प्रकार उसी पद्धति पर चलने से आज भी भाषा का प्रश्न स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसके समाधान के लिये किसी आंदोलन की आवश्यकता नहीं पड़ती। राष्ट्रभाषा के उत्कर्ष में सभी देशभाषाओं की उन्नति स्वयं हो जाती है।

श्रुतियों को अलग रखिए। वाल्मीकीय[१] रामायण के अवलोकन से अवगत होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। वानरवर हनूमान सीता की खोज में समुद्र पार कर लंका पहुँच गए हैं। राक्षसियों से घिरी संतप्त सीता की सांत्वना के लिये सोच में पड़ गए हैं :—

निशाचरीणां प्रत्यक्षमक्षमं चाभिभाषितुम्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम्॥
अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

(सुंदरकांड ११,१७,१८)

१—वाल्मीकीय रामायण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रथम तथा सप्तम कांड प्रक्षिप्त माने जाते हैं। शेष की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं। यहाँ पर जो अवतरण प्रस्तुत किए गए हैं वे मूल पाठ से हैं जो कम से कम ईसा से ५ या ६ सौ वर्ष पहले के हैं।

भाषा के विचार से प्रस्तुत अवतरण बड़े महत्त्व का है। संस्कृत के प्रसंग में इसका प्रायः उल्लेख किया जाता है। इसमें मनुष्य, वानर तथा राक्षस की एक सामान्य भाषा का विधान है। सीता, हनूमान और रावण सभी जिस भाषा का परस्पर प्रयोग करते हैं उसका नाम संस्कृत है। इस संस्कृत वाणी के भी दो रूप हैं—द्विजी और मानुषी। वानरवर हनूमान द्विजी भाषा का प्रयोग इसी लिये नहीं करते कि कहीं सीता उन्हें मायावी रावण न समझ लें। निदान निश्चित कर लेते हैं कि मानुषी भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

उक्त मानुषी भाषा हनूमान की निजी भाषा न थी। संसर्ग या संपर्क में आ जाने के कारण उन्हें इसका बोध हो गया था। अध्ययन तथा अभ्यास के कारण उन्हें इसके द्विजाति रूप का भी पूरा पूरा पता था। उसके व्यवहार में भी वे निपुण हो गए थे। उनके द्विजाति-भाषण के विषय में राम की सम्मति है :—

नानृग्वेद[1]विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम् ॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥
अविस्तरमसंदिग्धमविलंबितमव्यथम्।
उरःस्थं कंठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥

१—वेदों के उल्लेख से प्रकट होता है कि वानरवर हनूमान को संस्कृत वाणी वैदिक भाषा की परंपरा में थी। आर्येतर जातियों में भी वेद का पठन-पाठन होता था। आधुनिक संशोधकों ने हनूमान को द्रविड़ देवता सिद्ध किया है और द्रविड़ों को ही वानर का पर्याय माना है।

वेदवाणी किस प्रकार संस्कृत बन गई इसका कुछ आभास प्रकृत अवतरण में मिल जाता है। भाषाविदों के लिये यह बड़े काम का है।

संस्कारक्रमसंपन्नामद्भुतामविलंबिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
(कि० कांड २८-३२)

तात्पर्य यह कि विजातीय हनूमान का भाषण शिक्षा, संस्कार, बल, काकु, उच्चारण आदि भाषा के सभी अंगों से परिपुष्ट था। वाग्धारा उनकी वाणी से प्रवाह के रूप में फूट पड़ती थी। वह सहज, स्वच्छ, निर्मल तथा प्रसन्न थी। प्रयत्न अथवा बनावट की उसमें गंध भी न थी। संक्षेप में वह द्विजाति या शिष्ट भाषा थी। वह शिष्ट भाषा थी जिसका व्यवहार शिष्टाचार तथा बातचीत में भी होता था। पोथियों के अतिरिक्त वार्तालाप में भी उसका प्रचार था।

वाल्मीकि की द्विजी या शिष्ट भाषा ने और भी शिष्ट रूप धारण कर लिया। पाणिनि (ईसा के ४ या ५ सौ वर्ष पहले) के प्रयत्न से वह सचमुच संस्कृत हो गई। उनके संस्कार से संस्कृत 'संस्कृता वाक्' की जगह केवल 'संस्कृत' रह गई और विशेषण के बदले संज्ञा के रूप में चल पड़ी। 'मानुषी संस्कृता वाक्' की भी कुछ यही दशा हुई। उसको 'प्राकृत' की संज्ञा मिली। पाणिनि[१]-शिक्षा में कहा गया है :—

"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥"

पाणिनि के संबंध में प्रवाद है कि उन्होंने संस्कृत की तरह प्राकृत का भी व्याकरण लिखा। केदारभट्ट का स्पष्ट निर्देश है:—

"पाणिनिर्भगवान् प्राकृतलक्षणमपि व्यक्ति संस्कृतादन्यत्।" (हिन्दी विश्वकोष, भाग १४, पृ० ६७५)

'प्राकृतलक्षण' नामक एक प्राकृत व्याकरण मिला है जिसके प्रणेता चंड नामक एक सज्जन हैं। चंड के[२] व्याकरण को हम पाणिनि-

---

१—Wilson Philological Lectures on Marathi, H. N. Apte, Poona 1922 पृ० ५ पर अवतरित।

२—चंडप्रणीत व्याकरण को हार्नली ने वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' से पुराना माना है, पर कोई ठीक समय निश्चित नहीं किया है। उनका कहना है :-

प्रणीत नहीं कह सकते। पर सहसा यह भी निश्चित नहीं कर सकते कि पाणिनि ने प्राकृत का व्याकरण लिखा ही नहीं। संभव है कि उन्होंने अपने समय की शिष्ट तथा चलित दोनों ही भाषाओं का व्याकरण लिखा हो और उन्हें बाहरी प्रभाव से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने जीती जागती भाषा का व्याकरण लिखा है, कुछ मरी या पिंगल की भाषा का नहीं।

पाणिनि ने 'भाषा' को इस ढंग से ढाल दिया कि वह बराबर उसी ढर्रे पर चलती रही, कभी स्थिर या निर्जीव न हुई। पाली तथा प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने पर भी वह निष्प्राण न हुई बल्कि उनसे शक्ति ग्रहण करती रही और फिर उनकी जगह जन-सामान्य में चल निकली। इसलाम के भारत में जम जाने के पहले वही सम्पूर्ण भारत की शिष्ट राष्ट्र भाषा थी। उसके भी दो रूप थे। काव्यगत रूप को लेकर संस्कृत को भले ही गढ़ंत भाषा कह लें, पर उसके कथा-पुराण-रूप को देखकर आपको मानना पड़ेगा कि वह चलित और व्यवहार की भाषा है। जनता उसके भाव को समझती है और उसके कथा-प्रसंगों को बड़े चाव से सुनती है।

बालमीकि की मानुषी भाषा ब्राह्मी या ब्रह्मर्षि देश की लपित भाषा थी। धीरे धीरे उसका प्रसार अन्यत्र भी हो गया था। उसका शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एकरूप हो गया था पर प्राकृत रूप में सतत परिवर्तन होता रहता था। इसी परिवर्तन के प्रताप से एक ही भाषा के अनेक देशगत रूप हो गए थे। वैयाकरणों ने सुभीते के लिये उन्हें 'प्राकृत' की उपाधि दी और व्याकरण लिखते समय इस बात का ध्यान रखा कि संस्कृतज्ञ उनको आसानी से समझ लें और समय पड़ने पर संस्कृत को प्राकृत के रूप में रख दें।

"It would be, however, going too far, I think, to ascribe that grammar to the third century B. C. Probably it was composed at a somewhat later time. (Calcutta A. S. 1880 Part I Introduction P. XXI)

प्राकृतों के महत्त्व का प्रधान कारण यह हुआ कि व्रात्यों में दो ऐसे पंथ निकल आए जो परंपरा के पालन करने अथवा ब्राह्मणभक्त बनने में उतना प्रसन्न न थे जितना अपना मार्ग निकालने या मनुष्य मात्र के निर्वाण पाने में मग्न। निदान उन्होंने 'द्विजी' को त्याग 'मानुषी' को अपना लिया और मनुष्य-वाणी में 'सद्धर्म' का प्रचार उचित समझा।

जैनों ने महावीर स्वामी के आदेश पर अर्द्धमागधी तथा बौद्धों ने गौतम के आग्रह से मागधी का पक्ष लिया। जैन संप्रदाय को भी कभी व्यापक रूप न मिला। वह बहुत कुछ भारत के कोनों में पड़ा रहा और समय समय पर अपना रूप इधर उधर दिखाता रहा। संकीर्णता के कारण वह अधिक तत्पर तथा सुरक्षित रहा। संस्कृत के बहिष्कार में पहले तो उसे अच्छी सफलता मिली, पर बाद में उसे भी संस्कृत को अपनाना पड़ा। संस्कृत उसकी भी धर्मभाषा हो गई। पण्डितों में 'जैन-संस्कृत' का नाम चालू हो गया।

अशोकादि शासकों के प्रयास से बौद्धमत भारत का मुख्य मत हो गया। विदेशों में भी गौतम के सद्धर्म का प्रसार हुआ। आरंभ में 'मागधी' का व्यवहार रहा, पर संप्रदाय की माँग उससे पूरी न हो सकी। मागधी थी भी 'मानवी भाषा'। स्वयं गौतम की प्राकृत वाणी उससे भिन्न थी। मगध में बौद्धमत के विकास के कारण संभवतः मागधी को 'पाली' कह दिया गया। नहीं तो वस्तुतः वह पाली से सर्वथा भिन्न थी। वह मगध की लपित भाषा थी। बौद्ध ग्रंथ में उसे तो मानव भाषा कहा गया है और पाली को देवगण[१] तथा बुद्धगण की भाषा।

देववाणी के विषय में भूलना न होगा कि वस्तुतः वह ब्रह्मावर्त[२] देश की वाणी है। इसी से उसे ब्राह्मी[३] भी कहा जाता है। वाणी

१—हिन्दी विश्वकोष।

२—"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते"॥ (मनु० २।१७)

३—महाभारत में 'ब्राह्मी' का व्यवहार बराबर पाया जाता है।

के जो 'सरस्वती', और 'भारती' पर्याय चल पड़े हैं उनसे भी सिद्ध होता है कि भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती और देववाणी इसी लिये पड़ा कि वह भरत की सन्तानों यानी भारतों की भाषा तथा सरस्वती और दृषद्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी। 'बुद्धगण' की वाणी को भी देववाणी इसी लिये कहा गया होगा कि वस्तुतः वह इसी देववाणी की विकृति थी।

अस्तु, निवेदन यह करना था कि जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ी तब स्वभावतः उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी और जिसका प्रचार आधुनिक भारत से कुछ बाहर भी था। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिये संभव न था कि वह द्विजों की वाणी थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिये असंभव था कि वह प्रांतीय तथा सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को लिया जाय और उसी में 'बुद्धवचन' का संग्रह कर दिया जाय।

ब्रह्मर्षिदेश[1] की चलित वाणी में बुद्धवचन का संपादन तो हो गया किंतु मगध के प्रभुत्व एवं मागधी के संसर्ग के कारण उसमें कुछ नवीन रूप भी आ गए। बौद्धों में उक्त पंक्तियों का इतना सम्मान बढ़ा कि बात-बात में उनकी दुहाई दी जाने लगी। नतीजा यह निकला कि घिसघिसा कर 'पंक्ति' 'पालि' या 'पाली' हो गई। आज भी पंडित-मंडली में 'पंक्ति' का अनुष्ठान कम नहीं होता। जिससे 'पंक्ति' अच्छी तरह लग जाय बस वही अच्छा पंडित है।

१—ब्रह्मर्षिदेश की जगह प्रायः मध्यदेश का प्रयोग किया जाता है, पर वह ठीक नहीं है। मध्यदेश की सीमा बराबर घटती बढ़ती रही है। पूर्व में कभी प्रयाग और कभी वाराणसी तक मध्यदेश कहा गया है। लेकिन ब्रह्मर्षिदेश की सीमा सदा स्थिर और शुद्ध पश्चिमी हिंदी के भीतर रही है। मनुस्मृति में लिखा है—

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः"॥ (२।१९)

पाली के विवेचन से प्रत्यक्ष होता है कि वास्तव में पाली पंक्ति या लिखित भाषा थी। हम उसे कहीं की शुद्ध लपित भाषा नहीं कह सकते। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि वह ब्रह्मर्षि देश की चलित भाषा के आधार पर बनी थी और सांप्रदायिक आग्रह के कारण कुछ मागधीपन के साथ थी। बौद्धकाल की वही राजभाषा भी थी और चलित राष्ट्रभाषा भी।

पाली के प्रभुत्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि द्विजी भाषा से लोग कुछ विरक्त से हो चले और प्राकृतों को विशेष महत्त्व देने लगे। पाणिनि के परिश्रम को सफल करने के लिये द्विजों ने उसे और भी द्विजी कर दिया। संस्कृत तथा प्राकृत का भेद बढ़ता रहा। उसको मिटाने की कभी व्यर्थ चिंता न हुई। प्राकृतों का लेखा लिया गया और संस्कृत के आधार पर उनका व्याकरण भी रचा गया।

उधर बौद्धों ने देखा कि शाक्यमुनि ने द्विजी भाषा का निषेध किया था जनता के कल्याण अथवा लोक-संगल के लिये, कुछ द्विज-द्वेष के लिये नहीं। द्विजों को परास्त करने के लिये, तर्क द्वारा उन्हें सुझाकर अपने संघ में लाने के लिये तथा शास्त्रार्थ एवं शास्त्रचिंतन के लिये तो अवश्य ही द्विजी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उसके अतिरिक्त किसी अन्य मानुषी भाषा में इतनी क्षमता कहाँ कि सूक्ष्माति-सूक्ष्म बातों का निदर्शन करे और बाल की खाल निकालकर तथ्य को सबके सामने साफ़ रख दे। निदान उन्हें भी संस्कृत का स्वागत करना पड़ा। उनके योग से संस्कृत पनप उठी और 'गाथा' के रूप में एक अलग शाखा निकल आई। हीनयानियों ने पाली का पिंड पकड़ना अपना धर्म समझा पर महायानियों ने अपनी महत्ता के कारण उसकी उपेक्षा की और लोकमंगल के लिये संस्कृत को उभार दिया। संस्कृत अपनी उदारता एवं संपन्नता के कारण सार्वभौम राष्ट्रभाषा बन गई। जैनों ने भी उसे अपना कर उसके राष्ट्रपद की प्रतिष्ठा की।

संस्कृत को पूरा पूरा पता था कि सरल और बोधगम्य होने पर भी वह जनता की सहज या जन्मभाषा नहीं है। शिष्टों के समाज में

प्रतिष्ठित होने के कारण उसकी मर्यादा स्थिर हो गई थी। वह जनता के बीच स्वच्छंद विचर नहीं सकती थी। उस पर शब्दानुशासकों की कड़ी और अत्यंत पैनी दृष्टि थी। अतएव उसका कर्तव्य हुआ कि लोकवाणी का आदर करे, प्राकृत-भाषा को महत्त्व दे। उसकी उन्नति में अपनी उन्नति समझे।

देशकाल के प्रभाव से प्राकृत भाषा के अनेक भेद हो गए थे। लक्ष्मीधर (१६वीं शती ई०) ने इसका संकेत इस प्रकार कर दिया है :–

"त्रिविधा प्राकृती भाषा भवेद्देश्या च तत्समा।
तद्भवा च भवेद्देश्या तत्र लक्षणमंतरा॥
तत्समा संस्कृतसमा नेया संस्कृतवर्त्मना।
तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा॥
द्विविधायाश्च सिद्धयर्थं प्राकृतं लक्षणं मतम्।

(षड्भाषाचंद्रिका १।४७,४८)

तत्समा प्राकृतभाषा के विवेचन से व्यक्त होगा कि वैयाकरणों ने व्यर्थ ही संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति नहीं कहा है, प्रत्युत बहुत कुछ सोच-समझकर यह सूत्र निकाला है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति वास्तव में संस्कृत ही है—वही संस्कृत जिसको वानरवर हनूमान ने 'मानुषी संस्कृत' कहा है, कुछ द्विजाति-संस्कृत नहीं।

संस्कृत वाणी में कुछ ऐसे रूप थे जो द्विजों और मनुष्यों में समान रूप से प्रचलित थे। आचार्यों ने भाषा के उन्हीं रूपों की एकता के कारण तत्समा प्राकृत का उल्लेख किया और स्पष्ट कह दिया कि उसके अलग व्याकरण की आवश्यकता नहीं, वह सदैव संस्कृत के साथ है। रही तद्भवा की बात। उसके विवेचन में विचार करना होगा कि तत्समा में किन विकारों के आ जाने से कौन सी तद्भवा बन जाती है और वह किस देश में बोली जाती है, किसी तद्भवा के अभ्यास के लिये किन रूपों में परिवर्त्तन कर दिया जाता है और प्रसंग आने पर किस नियम से संस्कृत को प्राकृत बना दिया जाता है—संक्षेप में, संस्कृत किस

प्रकार प्राकृत बन जाती है। देश्या के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि वैयाकरणों ने अनार्यों की मूल देश्या या ठेठ देशी भाषा का विचार नहीं किया है बल्कि आर्यों की तद्भवा के देशगत रूप को देशभाषा का नाम दिया है और उसे उक्त प्रांत की भाषा कहा है। वैयाकरणों की मागधी का अर्थ मगध देश की मूलभाषा नहीं बल्कि मगध में प्रचलित तद्भवा भाषा है, अर्थात् वह आर्य भाषा है जो आर्यों के साथ मगध में फैल गई और देशकाल के प्रभाव से कुछ से कुछ और ही हो गई। उसके रूप में बहुत से विकार उत्पन्न हो गए।

प्रकृत विवेचन के आधार पर अब हम आसानी से समझ सकते हैं कि "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" का रहस्य क्या है। 'प्राकृतम्' का अर्थ है प्राकृत मात्र की भाषा नहीं प्रत्युत आर्यों के प्राकृत जनों की वाणी, प्राकृत आर्यों की वह भाषा जो देशकाल के प्रभाव से विकृत हो गई थी और स्थानीय अनार्यों के संपर्क में आ जाने से कुछ रूप, काकु तथा उच्चारण में भी बदल गई थी।

संस्कृत के प्रसंग में हम पहले ही देख चुके हैं कि उसके मानुषी तथा द्विजी दो रूप थे। द्विजी संस्कृत वाणी ने आगे चलकर शिष्ट संस्कृत का रूप धारण कर लिया और मानुषी संस्कृत ने मूल निवासियों से मिलकर 'प्राकृत' की पदवी प्राप्त कर ली। प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने से प्राकृत भाषाओं को महत्त्व मिला और काव्य-भाषा में उनकी भी गणना हुई। प्राकृत काव्यभाषा तो हो गई पर प्राकृत कवि न हो सके। उनकी भाषा पंडितों के हाथ में पड़ी और संस्कृत प्राकृत के रूप में पोथियों में दीख पड़ने लगी। आज हमारे सामने यही व्यवस्थित प्राकृत है। हम इसे प्राकृतों की मूलवाणी नहीं कह सकते। यह तो प्राकृतों की शिष्ट प्राकृत है। अवश्य ही इसकी प्रकृति संस्कृत है—अधिकांश शिष्ट संस्कृत। अतएव वैयाकरणों का यह दावा कि संस्कृत प्रकृति तथा प्राकृत विकृति है सर्वथा साधु है। उनको फटकारने के पहले एक बार अपने दावे को भी अच्छी तरह परख लेना चाहिए। उनको परास्त करने के लिये संस्कृत तथा प्राकृत का धात्वर्थ पर्याप्त

नहीं है। वानरवर हनूमान ने 'मानुषी वाक्' को भी 'संस्कृता' कहा है, 'प्राकृता' नहीं। इससे सिद्ध होता है कि उस समय मानुषी वाक् को भी संस्कृत ही कहते थे, प्राकृत नहीं।

वैयाकरणों ने तो संस्कृत तथा प्राकृत के पारस्परिक संबंध को भली भाँति निभा दिया, किन्तु सांप्रदायिकों को उससे संतोष न हुआ। बौद्धों ने मागधी तथा जैनों ने अर्द्धमागधी को मूलभाषा अथवा प्रकृति कहा। प्राकृत तथा संस्कृत के धात्वर्थ में जो प्रकृति एवं संस्कृति का विधान है उससे उन्हें सहायता मिली और संस्कृत का पक्ष निर्बल हो गया। बहुतों ने प्राकृत को प्रकृति मान लिया और संस्कृत को निपट बनावटी या गढ़ंत भाषा कह दिया। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, उनके इस विचार में कुछ सार नहीं है। स्वतः संस्कृत ब्राह्मी या देववाणी है। इसी देववाणी का मानुषी रूप प्राकृत है जिसके न जाने कितने देशगत रूप हो गए हैं। अतः हम नमिसाधु (१०६९ ई०) के इस निष्कर्ष से कभी सहमत नहीं हो सकते कि

"शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि।"

(श्री रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, म० २, पद्य १२ की टीका)

विचार करने की बात है कि आचार्य हेमचंद्र (१०८८ से ११७२ ई०) ने नमिसाधु की देखा-देखी अपने काव्यानुशासन के मंगलाचरण में तो 'जैनी वाणी' को 'सर्व्वभाषा परिणता' कह दिया है पर अपने 'हैमव्याकरण' में स्पष्ट संस्कृत को प्रकृति तथा प्राकृत को विकृति माना है। उनकी उक्ति है:—

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।"

अस्तु, यह निर्विवाद है कि संस्कृत तथा प्राकृत का विकास एक ही मूलभाषा अर्थात् ब्राह्मी से हुआ है। यदि प्राकृत तथा संस्कृत की प्रकृति और संस्कृति को सामने रख कर प्राकृत प्रश्न पर विचार करें तो भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं हो सकता कि 'अर्द्धमागहा' या कोई अन्य प्राकृत भाषा ही उक्त प्रकृति है। सच बात तो यह है कि जैनों के ऋषभदेव की वाणी 'अर्द्धमागहा' न थी। वह महावीर स्वामी की

'अर्द्धमागहा' से भिन्न 'ब्राह्मी' या ब्रह्मावर्त देश की वाणी थी। उसी का प्रचार ऋषभदेव ने भी किया था। वही 'जैनी वाणी' की भी प्रकृति थी।

सांप्रदायिकों ने जहाँ मागधी और अर्द्धमागधी पर जोर दिया वहाँ वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सराहा। कुछ की तो धारणा ही यह हो गई कि महाराष्ट्री ही वास्तव में मूल प्राकृत है। श्रीराम शर्मा ने स्पष्ट कह दिया कि महाराष्ट्री ही 'हेतुभूत भाषा' है :—

"सर्वासु भाषास्विह हेतुभूतां भाषां महाराष्ट्रभवां पुरस्तात्।
निरूपयिष्यामि यथोपदेशं श्रीरामशर्माहमिमां प्रयत्नात्॥"

(हि० वि० को०, भा० १४ पृ० ६७५)

महाराष्ट्री के 'महा' शब्द के ज़ोर पर कुछ लोगों ने महाराष्ट्री को व्यापक राष्ट्रभाषा मान लिया है और अपनी प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिये वैयाकरणों का प्रमाण दिया है। किंतु परितः परिशीलन से पता चलता है कि व्याकरण में महाराष्ट्री की प्रधानता का कारण कुछ और ही है। 'प्राकृत-प्रकाश' में जिन प्राकृतों का विवेचन किया गया है उनमें महाराष्ट्री मुख्य है। वररुचि ने महाराष्ट्री का निरूपण कर शेष प्राकृतों का परिचय उसी के आधार पर दे दिया है। किंतु महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को मान लिया है। सचमुच संस्कृत ही प्राकृत की परंपरागत प्रकृति है। उसी के मानुषी रूप से प्राकृतों का विकास हुआ है।

आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस उलझन को सुलझा दिया है। उनका कथन है :—

"महाराष्ट्रोद्भवां भाषां प्रकृष्टप्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयः॥"

(प्र० परिच्छेद; पद्य ३४)

आचार्य ने व्यक्त कर दिया है कि महाराष्ट्री की प्रकृष्टता का कारण उसका काव्य है। जिस प्राकृत में सेतुबंध जैसे सूक्ति-सागर मौजूद हों उसे उत्कृष्ट क्यों न कहा जाय।

काव्य में महाराष्ट्री के प्रकर्ष का कारण था उसका साहित्य और उसके साहित्य के उत्कर्ष के विधाता थे 'हालसातवाहनादिनामा शकप्रवर्तक: शालिवाहन:। येन च गाथासप्तशती संकलिता।'

(साहित्यदर्पण, निर्णयसागर १९२२ ई०, भूमिका पृ० ५८)

शालिवाहन प्राकृत के परम प्रेमी थे। उनके शासन में सभी प्राकृतभाषी हो गए थे। प्राकृत की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि स्वत: शालिवाहन संस्कृत में कच्चे रह गए। कहा जाता है कि एक दिन जल-क्रीड़ा के समय किसी रमणी ने जल के छींटों से तङ्ग आकर उनसे प्रार्थना की थी कि 'मोदकं देहि।' प्राकृत-प्रेमी शालिवाहन को 'मा + उदकं' का भान न हो सका और उन्होंने चट उसके सामने लड्डू पेश कर दिया। रमणियाँ हँस पड़ीं। शालिवाहन कटकर रह गए। संस्कृत सीखने की ठान ली।

शालिवाहन की सभा में गुणाढ्य नामक एक पंडित थे। संस्कृत-शिक्षा के लिये राजा का उन पर ध्यान गया। इसके लिये उन्हें ६ वर्ष की आवश्यकता पड़ी। सौभाग्य से वहीं शर्ववर्मा भी मौजूद थे। उन्होंने ६ महीने में संस्कृत सिखा देने का दावा किया और इसके लिये एक का-तंत्र नामक व्याकरण भी रच डाला। राजा को प्रसन्न करने के लिये गुणाढ्य ने जो यत्न किया वह पैशाची प्राकृत में 'वड्डकहा' का सृजन था।

प्रकृत प्रवाद में पते की बात यह है कि गुणाढ्य ने महाराष्ट्री में रचना करना पसंद नहीं किया। बल्कि उससे भिन्न एक दूसरी प्राकृत अर्थात् पैशाची में एक 'बृहत्कथा' रची। कारण प्रत्यक्ष है। पैशाची शालिवाहन की अपनी भाषा थी। शकादिकों के साथ उसका भी प्रवेश दक्षिण में हो गया था। शालिवाहन की औरस ममता उसी के साथ थी। निदान गुणाढ्य ने प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिये पैशाची की शरण ली और उसकी कृपा से सफल-मनोरथ भी हो गए।

पैशाची के इस प्रकर्ष को देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि कभी वही भारत की मानुषी राष्ट्रभाषा थी। पैशाची को हम कुछ समय के लिये व्यापक राजभाषा के रूप में पाते अवश्य हैं, पर उसे कभी व्यवस्थित राष्ट्रभाषा कह नहीं सकते। शकादि शासकों के साथ मध्य तथा दक्षिण भारत में भी उसका प्रवेश हो गया और फलतः कहीं कहीं की वही प्रधान राजभाषा भी हो गई। परंतु आगे चलकर विदेशियों की भाँति वह भी सर्वथा स्वदेशी बन गई और वहाँ की भाषा में मिल जुल कर वहीं की हो रही।

पैशाची के परीक्षकों ने उसके देश के अन्वेषण में कुछ गड़बड़ी कर दी है। उन्होंने इस बात की तनिक भी चिंता नहीं की कि पैशाची देशभाषा के अतिरिक्त राजभाषा भी है। पैशाची के विषय में प्राचीनों का मत है कि वह विंध्य या विंध्य की पड़ोसिन भाषा है। राजशेखर (९वीं शती) ने काव्यमीमांसा में एक प्राचीन पद्य को उद्धृत किया है। इसमें स्पष्ट लिखा है—

"आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते" (अ० १०, पृ० ५१)।

इसके सिवा 'कवि-समाज' में—

'दक्षिणतः भूतभाषाकवयः'

का विधान किया है। भूतभाषा से उनका तात्पर्य पैशाची है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः।" (वही पृ० २९)। अतएव राजशेखर के प्रमाण पर दक्षिण भूतभाषा का प्रांत ठहरता है और विंध्य-प्रदेश से उसका परंपरागत संबंध सिद्ध हो जाता है। किंतु इस प्रतिज्ञा में अड़चन यह आ जाती है कि दक्षिण महाराष्ट्री का क्षेत्र है। वहाँ की भाषा का पुराना तथा प्रचलित नाम पैशाची या भूतभाषा नहीं, प्रत्युत दाक्षिणात्या प्राकृत है। लक्ष्मीधर ने साफ़ साफ़ कह दिया है—

"तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः" (षड्भाषाचंद्रिका १।२७)।

शालिवाहन के प्रसंग में हमने देख लिया है कि उसके शासन में प्राकृत का बोलबाला था। उसके प्रभुत्व से सभी प्राकृतभाषी[1] बन गए थे। स्वयं उसने 'गाहा सत्तसई' की रचना की थी और 'कवि-वत्सल'[2] की उपाधि से विभूषित हुआ था। किंतु उसके प्राकृत-प्रेम के प्रसाद से पैशाची भी लिपिबद्ध हो गई थी और उसमें एक 'वड्डकहा' भी बन गई थी। प्राकृत तथा पैशाची के इस संबंध को स्पष्ट करना अनिवार्य है। इसके बिना प्रकृत गुत्थी सुलझ नहीं सकती।

पैशाची पिशाचों की भाषा है। वृद्धों के कथनानुसार पिशाच-देश हैं:—

"पाण्ड्यकेकयबाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुधेष्णभोजगान्धारहैवकन्नोजनास्तथा॥" (षड्भाषाचंद्रिका १।२९)

वृद्धों ने किस दृष्टि को सामने रखकर उक्त जनपदों को पिशाच-देश कहा है, इस पर वाद-विवाद करने की ज़रूरत नहीं। कोई भी मनीषी उनको किसी निश्चित सीमा के भीतर घेर नहीं सकता। हम उन्हें प्रत्यक्ष ही छिट-फुट रूप में पाते हैं। अतएव हमारी धारणा है कि प्रस्तुत प्रसंग में पिशाच देश का अर्थ है पिशाचों का देश अर्थात् वे देश जिनमें पिशाचों की प्रधानता हो।

१—भोजराज ने ठीक ही कहा है—

"केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥" (सर० २।१५)

२—"सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीय मज्झरुमारम्मि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणम्।" (गाथा-सप्तशती)

पिशाच शब्द की निरुक्ति के विषय में सहसा कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। पैशाची के परम संशोधक सर जार्ज[१] ग्रियर्सन भी उसके निरूपण में असमर्थ रहे हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिशाचों की गणना शिवानुचरों में की गई है और उनकी स्वभूमि-भाषा संस्कृत कही गई है। हमारी धारणा है कि शकादि जातियों के पिशाच-रूप को देखकर उन्हीं को पिशाच की संज्ञा मिली और शैव होने के नाते उन्हें शिवानुचर भी कह दिया गया। राष्ट्र का शासन-सूत्र जब उनके हाथ में आ गया तब उन्हें भी शिष्टता के अनुरोध से संस्कृतभाषी बनना पड़ा। पुराविदों को पूरा पूरा पता है कि 'क्षत्रप', जो वास्तव में शक या पिशाच थे, संस्कृत का[२] व्यवहार करते थे। उनकी स्वभूमि में संस्कृत की प्रतिष्ठा थी। परंतु उनमें से जा दूर बस गए थे उनकी भाषा वही पैशाची रह गई थी अथवा वे देशगत प्राकृतों का व्यवहार करते थे। शालिवाहन इसी ढंग के शासक थे। उन्हीं के शासन के कारण 'कुंतल' पिशाचदेश कहा गया है।

कुंतल के शालिवाहन को संस्कृत-प्रेमी बनाने के लिये जो 'मोदकं देहि' का अस्त्र निकाला गया वह निष्फल न गया। शर्ववर्मा ने कातंत्र नामक सरल संस्कृत व्याकरण का सृजन किया और शालिवाहन संस्कृत में पारंगत हो गए। धारानगरी के भोजराज (१०१८-१०५६ ई०) को भी संस्कृत-भाषण का शौक था। एक दिन आपने एक दरिद्र ब्राह्मण को कंधे पर लकड़ी ढोते देखकर प्रश्न किया :—

१—Linguistic Survey of India Vol. I Part I Introductory P. 108.

२—महाक्षत्रप रुद्रदामन के उत्कीर्ण लेख (१५०-३ ई०) की मीमांसा में कीथ महोदय कहते हैं:—"But what is far more important is that the author thinks it fit to ascribe to the king the writing of poems in both prose and verse. Flattery or not, it was obviously not absurd to ascribe to a Kṣatrap of foreign extraction skill in Sanskrit poetry."(History of S. Literature Oxford. 1938 P.49)

"भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।"

उसने निवेदन किया :—

"तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते।"

(सरस्वतीकंठाभरण, प्र० प०; ६।१)

तात्पर्य यह कि ब्राह्मण 'बाधति' के अशिष्ट प्रयोग से व्यथित हो गया और भोजराज को ऐसा सटीक उत्तर दिया कि वे संस्कृत के परम आश्रय बन गए।

प्रकृत प्रवादों के आधार पर हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि शकादि जातियों के भारत में बस जाने तथा शुद्ध भारतीय हो जाने का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत ने नवजीवन धारण कर लिया और पैशाची देश में दूर दूर तक फैल गई। वह देशभाषा, जातिभाषा और किसी किसी जनपद की राजभाषा भी बन गई। कुंतल और भोज प्रभृति जनपदों में उसका प्रसार शकादिकों के साथ हुआ। उन्हीं के कारण वह पांड्य में भी पहुँच गई।

पैशाची के परीक्षण में सबसे विलक्षण बात यह दिखाई देती है कि वैयाकरणों तथा काव्याचार्यों ने उसकी बराबर चिंता की है, किंतु नाटकों में उसे स्थान नहीं मिला है। नाट्यशास्त्र में भाषाओं का उल्लेख इस प्रकार है:—

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।

वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥" (अ० १३ प० ४६)

'भाषा' के अतिरिक्त 'विभाषा' की भी नाट्यशास्त्र में चर्चा है, पर उसमें कहीं पैशाची का विधान नहीं है। साहित्यदर्पण में (६।१६४) पैशाची का विधान कर दिया गया है पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता। उसमें पैशाची की व्याख्या मात्र है। 'पैशाची स्यात्पिशाचवाक्' से संशोध का कोई प्रश्न सुलझ नहीं सकता। निदान कहना पड़ता है कि पैशाची के विवेचन में नाटकों से कोई सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, नाट्यशास्त्र से कुछ पता चल सकता है।

नाट्यशास्त्र में 'वाह्लीका' का विधान उदीच्यों के लिये किया गया है और खसों के लिये 'स्वदेशजा' का। भरत मुनि का स्पष्ट निर्देश है :—

"वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा।" (नाट्यशास्त्र,५३)

'स्वदेशजा' की प्रेरणा तथा उदीच्यों के इतिहास से अवगत होता है कि 'वाह्लीका' वस्तुत: उदीच्यों की देशभाषा न थी, बल्कि उन पर ऊपर से लाद दी गई थी। शालातुरीय पाणिनि की 'भाषा' का स्थान वाह्लीका को क्यों मिला। कुछ इसका भी विचार होना चाहिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी 'भाषा' की शिष्टता को सुरक्षित रखने के लिये बनी थी, कुछ भाषा को मार[१] डालने के लिये नहीं। पाणिनि के कुछ पहले ही या इन्हीं के समय* में उदीच्यों पर पारसीकों का विदेशी शासन जम गया था। उनके प्रभुत्व में 'भाषा' भ्रष्ट हो रही थी। पाणिनि की प्रतिभा ने सूत्रों के आधार पर उसे उबार लिया और 'भाषा' को सदा के लिये सचमुच 'संस्कृत' कर दिया।

'शिष्ट भाषा' तो व्यवस्थित हो गई पर चलित भाषा उनके अनुशासन से निकल भागी। वह शासकों के प्रभाव में आ गई। उसका वर्ण कुछ विदेशी भी हो गया। विदेशियों ने संस्कृतभूमि उदीच्य को अपनी गढ़ी बना ली और बराबर उसी में जमते रहे। उनका जमाव इतना सघन हो गया कि भरत मुनि को अपने नाट्यशास्त्र में उनकी भाषा का विधान करना पड़ा। उदीच्यों की भाषा वाह्लीका बन गई।

१—संस्कृत के मीमांसकों में अब 'डेड लैंग्युएज' कहने का फैशन उठ गया। संस्कृत के अद्वितीय पंडित डाक्टर कीथ कहते हैं—"It is a characteristic feature of Sanskrit, intimately connected with its true vitality, that unlike Medieval Latin, it undergoes important changes in the course of its prolonged literary existence, which even today is far from ended." [H. S. L. Oxford, P. 17]

* पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। यहाँ उनका समय ईसा के ४ या ५ सौ वर्ष पहले माना गया है।

वाह्लीका वाह्लीकों की देशभाषा थी। उदीच्यों की देशभाषा वह हो नहीं सकती थी। उदीच्यों और वाह्लीकों के घुल मिल जाने से उनकी भाषा भी शुद्ध न रहकर संकर हो गई। आगे चलकर जब शकादिकों के शासन ने उदीच्यों से आगे बढ़कर प्रतीच्यों और मध्यों को भी दबा लिया और उनके बीच उन्हें पिशाच के रूप में ख्यात कर दिया तब उनकी मिली-जुली संकर भाषा का नाम पैशाची चल निकला। पैशाची उदीच्यों की देशभाषा ठहरी। अन्यत्र उसे राजभाषा की प्रतिष्ठा मिली। देश में दूर दूर तक उसकी तूती बोलने लगी। उसमें भी काव्य-रचना होने लगी।

शकादिकों की आँखें खुली हुई थीं। उन पर किसी आसमानी चश्मे का परदा न था। किसी भी साधु संस्कृति को अपना लेना उनका धर्म था। निदान उक्त जातियों ने संस्कृत तथा भारतीय संस्कृति को ग्रहण कर अपने हिंदुत्व का परिचय दिया और शासक के रूप में भारत के भाग्यविधाता बने रहे। उनके ब्राह्मण्य बन जाने तथा संस्कृत या चलित प्राकृतों को अपना लेने से पैशाची का प्रभुत्व जाता रहा। वह कहीं की राजभाषा न होकर केवल उदीच्यों की देशभाषा रह गई। नाटकों में उसे स्थान तक न मिला। मिलता भी कैसे! राजवर्ग की भाषा संस्कृत नियत थी और उदीच्यों को रण-क्षेत्र के रंगमंच पर अपना सच्चा अभिनय दिखाना था। दिखावे के रूपक से उन्हें कब शांति मिल सकती थी। उनके भाग्य में तो दूसरा ही दृश्य बदा था।

एक 'बृहत्कथा' ने पैशाची को इतना महत्त्व दे दिया कि काव्य-भाषा अथवा वाङ्मय में उसकी चर्चा नित्य होती रही। भाषाचतुष्टय एवं षड्भाषाओं में उसे भी स्थान मिला। लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड्भाषा-चंद्रिका' में उसे एक से दो कर दिया। पैशाची के साथ चूलिका-पैशाची को भी अलग गिन लिया। परन्तु कतिपय को छोड़ अन्य आचार्यों ने उनका साथ न दिया। उन्होंने पैशाची तथा चूलिकापैशाची को एक ही कहा और संस्कृत को षड्भाषा के भीतर ही गिना। लक्ष्मी-

धर ने वस्तुतः तद्भवा 'षड्विधा प्राकृती' का विचार किया है, न कि 'षड्भाषा' का। उनका स्पष्ट कथन है :—

"षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥"

(षड्भाषाचंद्रिका १।२६)

तत्समा का विवेचन इसलिये नहीं किया कि वह संस्कृत के मार्ग पर चलती है और उसके व्याकरण भी अनेक हैं।

हाँ, तो प्रतिष्ठित षड्भाषाएँ हैं :—

"संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।
मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः ॥" (प्राकृतलक्षणम्)

जो लोग हमारी भाषा-परंपरा से अनभिज्ञ हैं अथवा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कालगत[1] भेद मानते हैं उनकी दृष्टि में उक्त भाषा-विभेद में अनेक दोष दिखाई दे सकते हैं। परंतु जिसने देश के भाषा-प्रवाह में भली भाँति अवगाहन कर लिया है उसे इसमें किसी प्रकार का प्रमाद गोचर नहीं होता। प्रत्युत भाषा के प्रश्न की सारी उलझन इसी से हल हो जाती है और हम किसी प्रकार के दुराग्रह के शिकार भी नहीं होते। ध्यान से देखिए, इसमें किस तथ्य का विधान किया गया है।

संस्कृत के प्रसंग में आपने अच्छी तरह देख लिया है कि वह वाल्मीकि के समय में भारत की चलित तथा शिष्ट राष्ट्रभाषा थी।

१—अपभ्रंश का समय प्रायः साहित्य की प्राकृतों के बाद माना जाता है जो वाङ्मय के विचार से ठीक है। पर इसी के आधार पर यह प्रतिज्ञा प्रतिष्ठित नहीं की जा सकती कि प्रत्येक देशभाषा के विकास में प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का समय समान रूप से आया है। हमारी धारणा तो यह है कि अपभ्रंश भी वास्तव में एक प्राकृत विशेष का ही नाम है जिसका प्रसार प्रतीच्यों, कुछ उदीच्यों और मध्यदेशीयों में था। अथवा ग्रियर्सन प्रभृति पंडितों की अंतरंग भाषाओं में ही अपभ्रंश का विकास हुआ, कुछ बहिरंगों में नहीं।

उसके द्विजी रूप ने किस प्रकार वैयाकरणों की कृपा से काव्यों की संस्कृत का रूप धारण कर लिया, इसके कहने की ज़रूरत नहीं। सभी लोग इसे ज़रूरत से कहीं ज्याद: जानते हैं। हाँ, आवश्यकता इस बात के प्रकाशन की अवश्य है कि संस्कृत कभी मरी नहीं बल्कि[1] कामधेनु की भाँति सदा हमारी कामनाओं या अभीष्ट को पूरा करती रही और ब्राह्मणों के उदय से फिर समस्त भारत की राष्ट्रभाषा बन गई। बौद्धों तथा जैनों ने भी उसे अपनाया और अपने प्रयत्न से उसके भांडार को और भी भर दिया। संस्कृत एकमात्र व्यापक राष्ट्रभाषा बन गई। कथा-पुराण के साथ वह अपने सरल रूप में जनता में चलती रही। निदान षड्भाषाओं में उसकी भी गणना हुई।

संस्कृत चलती अवश्य थी पर वह किसी प्रांत की व्यवहृत बोल-चाल की देश-भाषा नहीं हो गई थी। शिष्टों के भाव-विनिमय उसी में होते थे पर जन-सामान्य आपस में किसी स्थानीय देशभाषा का व्यवहार करते थे। अतएव भाषाओं के देश-विवेचन में उसका प्रश्न नहीं उठ सकता। यदि उठ सकता है तो उसके तद्भव मानुषी रूप का, जो अवश्य ही प्राकृत था।

संस्कृत के बाद प्राकृत की बाधा सामने आती है। अपभ्रंश न सही, शौरसेनी मागधी और पैशाची तो प्राकृत हैं। फिर इस प्राकृत का अर्थ क्या ? निवेदन है कि प्राकृत का सांकेतिक अर्थ है महाराष्ट्री। महाराष्ट्री को ही प्राकृत के नाम से याद करते हैं। संस्कृत के जान-

---

१— "Moreover, the fact that Sanskrit was thus regularly used in conversation by the upper classes, court circles, eventually following the example of the Brahmins in this regard, helps to explain the constant influence exercised by the higher form of speech on the vernaculars which reveals itself 'inter alia' in the constant influx of Tatsamas." A. B. Keith, History of S. Literature. Preface P. XXVII.

कार इसे अच्छी तरह जानते हैं और इसी लेख में इसका निदर्शन भी पहले हो चुका है। अस्तु, प्रकट है कि यहाँ प्राकृत का अर्थ है महाराष्ट्री।

संस्कृत को अलग कर देने से हमारे सामने महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, अपभ्रंश एवं पैशाची का प्रश्न रह जाता है। अतएव अब इनकी भी खोज करनी चाहिए। इनमें महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्रत्यक्षत: महाराष्ट्र, मगध और शूरसेन से संबंध रखती हैं। उन्हीं देशों के नाम पर उनका नाम चला है। पर अपभ्रंश तथा पैशाची के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उनमें किसी देश का कोई निर्देश नहीं।

पैशाची के संबंध में हमने व्यक्त कर दिया है कि वह उदीच्यों की भाषा है। शकादिकों के उदीच्यों में मिल जाने से जो भाषा निकल आई उसी का नाम पैशाची है। इसी पैशाची का कुछ संकेत भरत मुनि ने वाल्हीका के रूप में किया है और फलत: उसका विधान भी उदीच्यों के लिये कर दिया है। उदीच्या के अतिरिक्त भारत के जिन अन्य जनपदों या प्रांतों में उसका प्रचार दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है शकादिकों का प्रभुत्व और प्रभाव न कि उसकी जन्मभूमि। अस्तु, पैशाची पिशाच देश अथवा सामान्यत: उदीच्य की भाषा निश्चित हुई।

संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी और पैशाची का लेखा लग गया। अब केवल अपभ्रंश का पता लगाना शेष है। आचार्य दंडी (६०० ई० के लगभग) का कथन है :—

"आभीरादिगिर: काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता:।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥"

(काव्यादर्श १।३६)

'शास्त्र' से आचार्य का तात्पर्य व्याकरण है। वैयाकरण पतंजलि मुनि (ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पूर्व) ने 'अपशब्द' मात्र को अपभ्रंश कहा है। देखिए :—

"भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।"

अस्तु, 'शास्त्र' के अपभ्रंशाः से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो 'काव्य' की अपभ्रंश भाषा का देश देखना है। भाग्यवश आचार्य दंडी ने इसको भी स्पष्ट कह दिया है कि काव्य में आभीरादि[1] की वाणी को अपभ्रंश कहते हैं। 'काव्य' का संकेत कुछ अस्थिर सा है। सामान्यतः उसके भीतर दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही आ जाते हैं, पर विचार करने से विदित होता है कि यहाँ पर काव्य का अर्थ केवल दृश्य काव्य ही है। कारण यह है कि 'आभीरादिगिरः' का विधान उसी में खप सकता है। उसी में भिन्न भिन्न विभाषाओं की भिन्न भिन्न जातियों में व्यवस्था की गई है। श्रव्य काव्य में कहीं इस तरह का संकेत नहीं मिलता। यही कारण है कि हम आचार्य दंडी की 'आभीरादिगिरः' को नाट्यशास्त्र की 'आभीरोक्ति' की प्रतिध्वनि समझते हैं और अपभ्रंश के साधु समीक्षण में इसे संदिग्ध पाते हैं।

'आभीरादिगिरः' के अतिरिक्त यह भी याद रहे कि आचार्य दंडी ने अपभ्रंश को वाङ्मय का अंग भी माना है। उनका स्पष्ट निर्देश है :—

"तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥"(काव्यादर्श १।३२)

१—महाभारत के देखने से पता चलता है कि उस समय दो प्रकार के आभीर थे। एक की गणना शूद्रों में होती थी और दूसरे की आततायियों या भ्रष्टों में। कृष्ण की यादवियों को लूटनेवाले आभीर ही थे। उनके पाप से 'सरस्वती' नष्ट हो गई थी। संभव है उन्हीं आभीरों के कारण तत्कालीन भ्रष्ट भाषा का नाम आभीरी अथवा 'आाभीरादिगिरः' पड़ गया हो। कुछ भी हो, अपभ्रंश के विवेचन में आभीरों की अवहेलना हो नहीं सकती। उनके इतिहास पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

अतः अपभ्रंश के अन्वेषण में 'आभीरादिगिरः' के साथ इस आर्यों की अपभ्रंश को भी प्रमाण मानना चाहिए। सच पूछिए तो इसी आर्यापभ्रंश के कारण अपभ्रंश की गणना षड्भाषाओं में की गई है, कुछ आभीरादि के नाते नहीं।

अपभ्रंश की एक बड़ी विशेषता है उसका उकारबहुला होना। उकारबहुला भाषा का विधान नाट्यशास्त्र (ईसा के लगभग) में निम्न जनपदों के 'समुपाश्रितों' के लिये किया गया है—

"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥"

(नाट्यशास्त्र १७।३२)

'समुपाश्रिताः' के आधार पर कहा जा सकता है कि इस 'उकार-बहुला' भाषा का उदय उक्त जनपदों के आगत-वासियों में हुआ।

भरत मुनि के 'समुपाश्रिताः' एवं दंडी के 'आभीरादिगिरः' के परिशीलन से पता चलता है कि वास्तव में अपभ्रंश के निर्माण में विदेशियों का हाथ था। नाट्यशास्त्र में कहीं अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं मिलता पर उसके 'प्राकृत-पाठ' के विधान में 'विभ्रष्ट' का उल्लेख है—

"त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥" (नाट्यशास्त्र १७।३)

प्रायः कह दिया जाता है कि 'समान शब्द', 'विभ्रष्ट' और 'देशीगत' में क्रमशः 'तत्सम', 'तद्भव' तथा 'देश्य' का विधान है। पर हम इस निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। हमारी समझ में सीधी बात यह है कि एक ओर आर्य अनार्यों को हटाते, उन्हें अपनाते, उनके देश में बसते तथा उनकी भूमि को अपनी बनाते जाते थे। उनके इस प्रयास से उनकी भाषा में जो देशगत विकार उत्पन्न हो जाते थे उन्हीं को लक्ष्य करके उनके पाठ्य को देशीगत कहा गया है। दूसरी ओर आगंतुकों के नये जत्थे आते, जीतते और यहीं के हो रहते थे। यहाँ के भाव तथा भाषा से प्रभावित हो चाव के साथ आगे बढ़ते और

भाषा को अपनाकर उसे भ्रष्ट कर देते थे। संभवतः इसी भ्रष्टता के कारण उनके पाठ्य को 'विभ्रष्ट' की उपाधि मिली है। अतएव विभ्रष्ट और देशीगत को हम 'तद्भव' मानते हैं और उनके विभेद का कारण कुछ और ही समझते हैं। सारांश यह कि देशीगत पाठ्य स्वतः प्रकृत जनों का प्राकृत पाठ्य है और विभ्रष्ट आगंतुकों का प्राकृत पाठ्य। विभ्रष्ट में विदेशीपन अवश्य है। इसी विदेशीपन के कारण अपभ्रंश अन्य प्राकृतों से भिन्न है। भरत के 'समुपाश्रिताः' और दंडी के 'आभीरादि-गिरः' प्रभृति पद इसी की साक्षी दे रहे हैं।

भरत मुनि ने 'उकारबहुला' अर्थात् गर्भ की अपभ्रंश का विधान कर तो दिया पर नाटककारों ने उसे महत्त्व न दिया। शूद्रक के मृच्छ-कटिक और कालिदास के विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ[1] प्रयोग हुए तो सही पर उनमें भी उसको उचित स्थान न मिला। कालिदास के अनंतर तो किसी ने उसका ध्यान ही नहीं किया। नाटकों के प्रमाण पर यदि कोई अपभ्रंश तथा पैशाची की सत्ता को अस्वीकार करे तो इसके लिये हमारे पास प्रमाण क्या है! हम किस प्रकार उनकी सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं?

जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि भरत मुनि ने उकारबहुला भाषा का विधान हिमवत्सिंधुसौवीर के समुपाश्रित जनों में किया है और शूद्रक ने मृच्छकटिक में ढक्क भाषा को स्थान दिया है। ढक्क के विषय में विवाद करना व्यर्थ है। वस्तुतः वह 'टक्क' का रूपांतर है। टक्क जनपद में कभी अपभ्रंश का व्यवहार था। इसका पता एक प्राचीन पद्य से स्वतः चल जाता है। भाषा-क्षेत्र के विचार से यह पद्य बड़े महत्त्व का है—

१—अपभ्रंश के विषय में याकोबी, गुणे प्रभृति विद्वानों ने अच्छी खोज की है। इसके लिये 'भविसयत्तकहा' की भूमिका दर्शनीय है। श्री सुनीति-कुमार चटर्जी की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक पुस्तक की भूमिका भी इसके लिये उपयोगी है। 'उकारबहुला' के लिये पृ० ८८ देखिए।

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥"

प्रस्तुत पद्य के प्रणेता का पता नहीं। राजशेखर ने कृपा कर इसे काव्यमीमांसा (९१० ई०) में उद्धृत कर दिया है। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि यह कम से कम राजशेखर से पुराना है। इसमें इस बात का प्रत्यक्ष निर्देश है कि 'सकलमरुभुवष्टक्कभादानक' के प्रांत में अपभ्रंश का प्रयोग चालू था। उन्हीं जनपदों की प्राकृत में अपभ्रंश का प्रवेश था।

राजशेखर ने कवि-समाज की पंक्ति में अपभ्रंश कवियों को पश्चिम में स्थान दिया है और परिचारक वर्ग के लिये अपभ्रंश का ज्ञान आवश्यक बताया है। उनका कहना है—

"पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः" (का० मी० पृ० ५४, ५५)

"अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्गः"। (वही पृ० ५०)

अतएव हम कह सकते हैं कि राजशेखर के समय में अपभ्रंश पश्चिम की प्रचलित भाषा थी और नित्य प्रति के व्यवहार में आती थी। राजदरबार के परिचारक उसी का प्रयोग करते थे।

प्राकृत-वैयाकरणों अथवा काव्य के आचार्यों ने भाषाओं के अलग अलग क्षेत्रों का विचार नहीं किया है। किंतु प्राकृतों का जो वर्गीकरण किया है वह देश-दृष्टि पर अवलंबित है। मागधी और शौरसेनी के प्रांतों में किसी को आपत्ति नहीं। प्राकृत महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री का परंपरागत नाम है। अतः उसके संबंध में कोई विवाद नहीं। सुगमता के लिये शौरसेनी को मध्या मान लीजिए। मागधी प्राच्या और महाराष्ट्री दाक्षिणात्या निकल आई। अब प्रतीच्या का पता लगाइए। प्रतीच्य में अपभ्रंश का विधान किया गया है। उसके प्रांतों में अपभ्रंश का व्यवहार हुआ है। निदान उसकी प्राकृत का नाम प्रतीच्या या अपभ्रंश हुआ। रही पैशाची की बात। अवश्य

हो वह उदीच्या सिद्ध हुई। इस प्रकार पंच प्राकृतों का लेखा लग गया और उनका उचित विभाजन भी हो गया।

प्राकृतों में प्राच्या को अब्राह्मण्यों, दाक्षिणात्या को सातवाहनों एवं उदीच्या को शकादिकों ने बढ़ाया और कुछ काल के लिये राजभाषा के रूप में उनकी प्रतिष्ठा भी कर दी। पर उनके प्रयत्न से कभी उनको भारत की राष्ट्रभाषा का पद नसीब न हुआ। कारण प्रत्यक्ष था। उनमें से प्रत्येक सीमांत भाषा थी, भारत के हृदय मध्यदेश से दूर की भाषा थीं और अनार्यों के संसर्ग में आ चुकी थी। पैशाची आततायियों के पंजे में थी तो मागधी भदेसों के मुँह में। महाराष्ट्री द्रविड़ों के सम्पर्क तथा आर्यावर्त से अलग होने के कारण जन-सामान्य में पहुँच नहीं सकती थी। निदान उनमें से प्रत्येक का प्रताप उनके शासकों के साथ अस्त हो गया। अपने गुणों के कारण केवल महाराष्ट्री काव्य-भाषा बनी रही और नाटकों में शौरसेनी के साथ चलती रही।

शौरसेनी ब्रह्मर्षिदेश की भाषा थी। ब्राह्मो की वह औरस संतान थी। संस्कृत की सगी होने के नाते उसका भी व्यापक प्रचार था। वैयाकरणों ने उसे ही अन्य प्राकृतों की प्रकृति कहा है। सचमुच वही भारत की चलित राष्ट्रभाषा थी। उसी के सहारे सामान्य जनता भाव-विनिमय किया करती थी। जो लोग उसे बोल नहीं पाते थे वे भी उसे समझ अवश्य लेते थे। भरत मुनि ने उसकी इसी विशेषता को लक्ष्य करके लिखा है।

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत्॥"

(ना० शा० १७।४७)

शकादिक पिशाचों ने शूरसेन को अपना प्रांत बना लिया। उनके संपर्क में आ जाने से शौरसेनी की शुद्धता जाती रही। उसमें भी कुछ पैशाची का मेल हो गया। आभीर, गुर्जर प्रभृति[1] जातियों के जम

१—कुवलयमालाकथा में, जिसकी रचना संवत् ८३५ वि० में हुई थी, कहा गया है :—

जाने से शौरसेनी में जो विकार उत्पन्न हुए उन्हें लक्ष्य करके इस भ्रष्ट भाषा का नाम अपभ्रष्ट पड़ा। यही अपभ्रष्ट भाषा आगे चलकर अवहट्ट के रूप में प्रचलित हुई।

हूणों के परास्त हो जाने के उपरांत भारत कुछ काल के लिये आततायियों के आक्रमणों से सुरक्षित रहा। सिंध में मुसलिम झंडे के नीचे जो अरब-शासन स्थापित हो गया था उसका धीरे धीरे ह्रास ही हो रहा था। गुप्तों के शासन में ब्राह्मण्य या हिंदुत्व को जो प्रोत्साहन मिला था वह प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। विदेशी जातियाँ शुद्ध होकर कट्टर स्वदेशी और ब्राह्मण्य बन रही थीं। संक्षेप में राजपूतों का उदय तथा अपभ्रंश का उत्कर्ष हो रहा था। वह राजभाषा बन रही थी।

अपभ्रंश के प्रसंग में नोट करने की बात यह है कि उसका उदय उदीच्यों की 'उकारबहुला' भाषा में हुआ तो सही पर उसका विकास उदीच्या में न हो सका। कारण प्रत्यक्ष है। उदीच्या में पैशाची का प्रसार हो गया। पैशाची को चाहें तो ब्राह्मी और वाह्लीका का संकर[1] रूप कह सकते हैं। पैशाची को राजाश्रय मिल जाने के कारण उसका प्रसार प्रतीच्या, दाक्षिणात्या और कुछ कुछ मध्या में भी

"कपिलान् पिङ्गलनयनान् भोजनकथामात्रदत्तव्यापारान् 'कित्तो किम्मो जिह्म' जल्पकानथांतर्वेद्यांश्च" (छाया, अपभ्रंशकाव्यत्रयी पृ० ९२ पर अवतरित)। शौरसेनी के प्रांत अंतर्वेद में उक्त लोग कहाँ से आ बसे थे और कौन थे, इसका शीघ्र पता लगाना चाहिए। संभव है, उससे भाषा के विवेचन में अच्छी सहायता मिले।

१—उदीच्यों की जन्मभाषा ब्राह्मी या मानुषी वेदवाणी थी। वाह्लीकों के बस जाने से उसमें वाह्लीका का मेल हो गया। ईसा के लगभग ५ सौ वर्ष पहले उदीच्य में दारा का शासन स्थापित हो गया था। इस प्रकार उदीच्य की परंपरागत भाषा यानी मानुषी संस्कृत में बाहरी विकार काम कर रहे थे। इस प्रकार के योग अथवा मेल-जोल से जो भाषा निकल आई उसी का व्यवहार शकादिकों में चालू हुआ और वह पैशाची के नाम से प्रयोग में आ गई।

हो गया, पर कभी उसे जनता ने राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण न किया। करती भी कैसे ? उससे उसका सीधा संबंध ही क्या था ? मागधी और महाराष्ट्री की भी कुछ वही दशा रही जो पैशाची की थी। अंतर केवल यह था कि महाराष्ट्री ब्राह्मण्य प्राकृत थी और नाटकों में प्रतिष्ठित भी हो चुकी थी। मागधी की भाँति उसका संबंध भदेसों से न था। फिर भी वह एक कोने की भाषा थी। उसके प्रसार के लिये कठोर विधान अपेक्षित था, जो भारतीयों से हो नहीं सकता था।

अपभ्रंश क्या प्रकृति, क्या प्रवृत्ति, क्या परिस्थिति और क्या प्रतिष्ठा, सभी दृष्टियों से संपन्न और राष्ट्रभाषा के उपयुक्त थी। जिन पिशाचों के संसर्ग में आ जाने से उसमें भ्रष्टता आ गई थी उनकी गणना अब भारत के शुद्ध क्षत्रियों में हो गई थी और राजपूत नामक एक पक्की क्षत्रिय-जाति निकल आई थी। आभीर और गुर्जरों का संबंध ब्रज-विहारी गोपाल कृष्ण से स्थापित हो गया था। उनके साथ की उनकी रास-लीला पतित-पावन हो चुकी थी। अहीर की छोकरियाँ तनिक सी छाँछ पर कृष्ण को नाच नचाती थीं और 'गूजरी' ब्रजवल्लभ को मोह लेती थी। मतलब यह कि अपभ्रंशवाले आभीर भी अब पूत हो गए थे। फिर उनकी वाणी किस मुँह से भ्रष्ट कही जाती ?

अपभ्रंश पैशाची और ब्राह्मी के मेल से बनी था। वह संकर नहीं वास्तव में शबल थी। एक ओर भारत की परंपरागत राष्ट्रभाषा से उसका संबंध था तो दूसरी ओर वर्त्तमान शासक-वर्ग से उसका लगाव। स्थिति भी बहुत कुछ मध्य में थी। उत्तर में पैशाची, दक्षिण में महाराष्ट्री और पूर्व में शौरसेनी का प्रांत था जो उसकी जननी नहीं तो सगी अवश्य थी।

अस्तु, अपभ्रंश के सहसा राष्ट्रभाषा बन जाने के प्रधान कारण थे:—(१) उसका राष्ट्रभाषा की परंपरागत भाषा के वंश में होना; तथा (२) उस पैशाची भाषा से लगाव रखना जो कभी अधिकांश प्रांतों की राजभाषा थी और शकादिकों के साथ देश के अनेक भागों में

फैल गई थी; एवं (३) सहसा राजाश्रय को प्राप्त कर राजपूतों के साथ में देश-देशांतर में प्रविष्ट हो जाना।

अपभ्रंश भारत की लपित राष्ट्रभाषा थी। व्यवहार में होने के कारण उसके अनेक देशभेद हो गए थे। इसी भेद के कारण रुद्रट (८५० ई० के लगभग) को लिखना पड़ा—

"प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥" (काव्यालंकार, २।१२)

रुद्रट के 'भूरिभेदः' और 'देशविशेषात्' के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। नमिसाधु ने इसकी टीका में लिखा है—

"तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्व-भेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्कारणात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

नमिसाधु ने कहीं पर इस बात का उल्लेख नहीं किया कि 'उपनागराभीरग्राम्य' प्रभृति भेद किस व्यक्ति के किए हुए हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा कि उसी के खंडन के लिये रुद्रट ने 'भूरिभेद' का प्रयोग किया। 'भूरिभेद' के कारण को व्यक्त करने के लिये 'देशविशेषात्' की आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि उक्त 'त्रिधोक्त' भेद 'देशविशेष' पर अवलंबित न थे। उनके विभाजन का कारण देशगत रूप नहीं बल्कि कुछ और था। 'उपनागर' और 'ग्राम्य' में तो 'नगर' और 'ग्राम' का आधार है पर 'आभीर' में प्रत्यक्ष ही जाति का संकेत है। आभीर का प्रयोग शायद 'आभीरादिगिरः' के इशारे पर कर दिया गया है। आभीरी भाषा के प्रसंग में नमिसाधु ने उसी पद्य की टीका में लिखा है—

"आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।"

नमिसाधु के इस कथन से प्रकट होता है कि अपभ्रंश मगध की देशभाषा न थी। वह कहीं कहीं मागधी में भी दिखाई दे जाती थी। अपभ्रंश के इस मागधी रूप के लिये नमिसाधु ने वही 'तस्य लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्' का विधान किया है और प्राकृत अपभ्रंश का कुछ विचार कर प्रसंग को समाप्त कर दिया है।

अपभ्रंश के मागधी रूप के निदर्शन का यह समय नहीं। इसके लिये वज्रयानियों के गानों—विशेषत: सरह और कृष्णाचार्य—का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ पर हम इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिये विद्यापति का एक पद्य पेश करते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशभाषा के संबंध में उनका मत है—

"सक्कय वाणी वहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसिन जम्पओ अवहट्ठा॥"
(कीर्त्तिलता)

'तँ तैसिन' के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि देशी भाषा की भाँति अपभ्रंश भी कभी व्यापक लोकप्रिय थी। इसी लोकप्रियता के कारण विद्यापति ने उसी में कविता का श्रीगणेश किया। आगे चलकर विद्यापति ने संस्कृत तथा मैथिली को महत्त्व दिया और अवहट्ठ की उपेक्षा की। निश्चय ही उनके अपभ्रष्ट-प्रेम का प्रधान कारण अपभ्रंश की प्रतिष्ठा अथवा उसका व्यापक व्यवहार था। 'पाल' तथा 'सेन' राजाओं के शासन में प्राच्या के क्षेत्र में भी अपभ्रंश का व्यापक प्रचार हो गया था। अपभ्रंश ही वहाँ की चलित काव्य-भाषा थी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि संस्कृत के अद्वितीय गीत काव्य गीतगोविंद का आधार वास्तव में अपभ्रंश ही है। अपनी अपभ्रंश रचना को ही जयदेव[१] ने संस्कृत के साँचे में ढाल दिया है। जो हो, अपभ्रंश के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि जो प्रांत प्राकृत प्रयोग में कुंठित समझा जाता था उसी ने अपभ्रंश को सहर्ष स्वीकार कर लिया और उसको राष्ट्रभाषा होने का प्रमाण दिया।

अपभ्रंश भाषा पर विचार करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रखना चाहिए कि वह देशभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा भी है।

१—जयदेव के अपभ्रंश-प्रेम के लिये श्री चटर्जी की The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta, 1926 Pages 125-6 Introductory देखना चाहिए।

रुद्रट ने इसी राष्ट्ररूप को लक्ष्य करके लिखा है कि अपभ्रंश के 'भूरिभेद' हैं। उसकी इस भूरिभेदता का कारण है उसका व्यापक व्यवहार। व्यवहार में होने के कारण उसके रूप में देशगत विकार हो गए हैं। उन्हें जानने के लिये उक्त देशों के देशगत रूपों का अध्ययन करना चाहिए।

अपभ्रंश के समीक्षकों को याद रखना होगा कि अपभ्रंश राष्ट्रभाषा ही नहीं, देश के एक बड़े भूखंड की भाषा भी थी। प्राकृतों के प्रसंग में हमने यह दिखा देने का प्रयत्न किया है कि वह प्रतीच्यों की की भाषा थी। मध्या अर्थात् शौरसेनी भी उससे प्रभावित थी। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि वस्तुतः अपभ्रंश मध्यदेश, राजस्थान, पंचनद और गुजरात की भाषा थी। सिंध में भी उसका प्रसार था।

सातवाहनों ने जिस तत्परता से प्राकृत को प्रोत्साहन दिया उसी तत्परता और उसी लगन से गुर्जरों ने अपभ्रंश को बढ़ाया। अपभ्रंश का नाम 'आभीरादिगिरः' व्यर्थ ही नहीं पड़ा। उसके प्रसार में गुर्जराभीरों का पूरा योग था। गुर्जरों के विषय में भोजराज का कहना है :—

"अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः"

(सरस्वतीकंठाभरण २।१३)

गुर्जरों के प्रभाव तथा महत्त्व को याद दिलाने के लिये आज भी 'गूजरी' और 'नागरी' शब्द मौजूद हैं। नागरी का संबंध गुर्जरों के पुरोहित नागर जाति के ब्राह्मणों से है। उन्हीं की कृपा तथा प्रयत्न से अपभ्रंश का प्रचार सुदूर दक्षिण में हो गया और एक देशगत द्रविड़ या द्राविड़[1] अपभ्रंश भी निकल आई। पंजाब में 'गुजरात' तथा

१—भारतीय भाषाओं के चित्रगुप्त सर जार्ज ग्रियसन ने भी एक राष्ट्रापभ्रंश को मान लिया है। उनका कहना है :—"They were each a local variation, not of the local dialect, but of the one language which we call literary Apabhramsa." तथा "That they were not

'गुजरानवाला' आज भी गुर्जरों के नाम को उजागर कर रहे हैं। ब्रह्मर्षि देश में आज भी गूजरों की बड़ी बस्ती है। राजपूतों में अनेक गुर्जरकुल से प्रभूत हैं। सारांश यह कि गुर्जराभीरों के प्रभाव से अपभ्रंश पुष्ट हो गई और संस्कृत के साथ भारत की चलित राष्ट्रभाषा बन गई।

'नागर' पंडितों की अपभ्रंश थी। उसका प्रयोग काव्य-रचना में होता था। उसके अतिरिक्त एक और भी अपभ्रंश थी जिसका नाम 'ग्राम्य' रख दिया गया था। नमिसाधु ने इस ग्राम्य का उल्लेख 'उपनागराभीर' के साथ किया है और जैनाचार्य हेमचंद्र ने उसे काव्य-भाषा के भीतर कर लिया है। उनका कहना है—

"पद्यं प्राय: संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धम्।" (काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण पृ० ३३०)।

आचार्य ने कृपाकर उस काव्य का निर्देश भी कर दिया है जो ग्राम्यभाषा में रचा गया था--

"ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धकबन्धं भीमकाव्यादि"। (वही पृ० ३३७)।

दुर्भाग्यवश भीमकाव्यादि का कोई पन्ना हमारे सामने नहीं है। फिर भला हम किस मुँह से कह सकते हैं कि यही ग्राम्यापभ्रंश आधुनिक गुजराती की जननी है। कुछ भी हो, इतना कहने में हमें कोई रोक भी नहीं सकता कि वास्तव में नागर राष्ट्र-अपभ्रंश का नाम है। उस अपभ्रंश का नाम है जो इसलाम के पहले भारत की चलित काव्यभाषा थी और नागरों के प्रयास से परित: पुष्ट हो समस्त देश की व्यवहार की भाषा बन गई थी। अजब नहीं कि तुरकों ने आरंभ में इसी को 'रेखता' कहा हो और 'हिंदी' के नाम पर इसी में रचना आरंभ

---

actual vernaculars of the countries after which they were named is plain from these descriptions. These Apabhraṁśas were found even in countries of which the local language was Dravidian. (L. S. Introductory, P. 124.)

की हो। रेखता का एक अर्थ अपभ्रंश भी है और दक्खिनी कवियों ने 'गूजरी' का उल्लेख भी किया है। 'गूजरी' अवश्य ही 'गूर्जरी' से बनी है, न कि गुजराती से।

तुरुकों के राज्य में हमारी राष्ट्रभाषा नागरी ने जो रंग पकड़ा उसकी मीमांसा अन्यत्र होगी। यहाँ इतना ही निवेदन कर देना है कि आज भी हमारे सामने भाषा का वही पुराना प्रश्न है जो कभी हमारे पूर्वजों के सामने था। अंतर केवल इतना पड़ गया है कि हममें कुछ ऐसे जीव भी बस गए हैं जो यहाँ के नहीं वहाँ के होकर यहाँ बसना चाहते हैं और हिंद को अपना घर नहीं बल्कि छावनी समझते हैं। उनके इस व्यामोह को हटाने का प्रयत्न करना जागते को जगाना और पाषंड को बढ़ाना है। अतएव उनकी उपेक्षा कर हमें स्पष्ट कह देना है कि राष्ट्र के मंगल तथा लोक के कल्याण के लिये यह परम आवश्यक ही नहीं सर्वत: अनिवार्य भी है कि हम भाषा की परंपरा पर ध्यान दें और अच्छी तरह, भली भाँति, देख लें कि हमारा राजमार्ग क्या है। किस प्रकार हम एक में अनेक का विधान और अनेक में एक का अनुष्ठान करते आ रहे हैं। यदि हमने प्रमादवश परंपरा के कारण प्रथित राजमार्ग को छोड़ स्वच्छंद पगडंडियों का सहारा लिया और व्यर्थ के प्रलोभनों में मनमाना ढर्रा कायम किया तो हमारा विनाश अवश्यंभावी है। सबके होने में हम कहीं के न रह जायँगे और एक ऐसी सूरत निकाल या खड़ी कर लेंगे जो धीरे धीरे हमीं को भक्ष लेगी। फिर राष्ट्र और राष्ट्र-भावना का उद्धार कौन करेगा?

हाँ, तो निवेदन यह कर देना था कि इसलाम क्या मसीह के बहुत पहले वाल्मीकि के समय में संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा थी। उस समय सभी भाषाओं की भाँति उसके भी दो रूप थे। वाल्मीकि ने एक को 'द्विजाति' और दूसरे को 'मानुषी' कहा है। भाषा के द्विजाति रूप को शिष्टों ने अपनाया और उसको और भी शिष्ट तथा संस्कृत बना लिया। वह शिष्टों की भाषा तथा समस्त देश की शिष्ट राष्ट्रभाषा बराबर बनी रही। अब्राह्मणों ने पहले उसकी उपेक्षा की, किंतु फिर सोच

समझकर उसे अपनी शिष्ट और व्यापक राष्ट्रभाषा मान लिया। गुप्तों तथा राजपूतों के प्रोत्साहन से उसमें जान आ गई और इसलाम के भारत में जमने के पहले गाँव-गाँव और घर-घर में उसकी प्रतिष्ठा हो गई, कथा-पुराण के रूप में सर्वत्र फैल गई और प्राकृतों से कहीं अधिक सुबोध[१] हो गई। 'मानुषी' ने क्रमश: पाली, शौरसेनी और नागर के रूप में भारत की चलित राष्ट्रभाषा का रूप धारण किया और अन्य प्राकृतों अथवा देशभाषाओं को स्वतंत्र बढ़ने दिया। इस प्रकार इसलाम के पहले भारत में एक ओर तो राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत विराजमान थी और दूसरी ओर नागरापभ्रंश। संस्कृत का व्यवहार शिष्टों में था। संस्कार तथा कालचक्र के प्रभाव से वह श्रमसाध्य हो गई थी। फारसी के आ जाने से उसकी राज-मर्यादा भंग हो गई, पर चलित और सहज होने के कारण 'नागरी' बनी रही। समूचे हिंद की भाषा होने के नाते उसे हिंदी की उपाधि मिली। वही यवनों की भी चलित राष्ट्रभाषा हुई।

यवनों ने अपभ्रंश को इतना महत्त्व दिया कि अपभ्रंश उन्हीं की भाषा सी हो गई। वैयाकरणों ने उसकी उपेक्षा की। अब उसके व्याकरण पर विचार करना आवश्यक हो गया। लक्ष्मीधर ने साफ साफ कह दिया—

"अपभ्रंशस्तु चण्डालयवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णव:॥" (षड्भाषा चं० १।३६)

किंतु उनके समकालीन शेषकृष्ण ने अपभ्रंश की इस प्रकार अवहेलना न की। अपभ्रंश का विवेचन तो उन्होंने भी नहीं किया पर उसका कारण कुछ और ही बताया। उनका निवेदन है—

१—जैन कवि सिद्धर्षि ने उपमितिभवप्रपंचकथा (९०६ ई०) को प्राकृत में नहीं लिखा बल्कि उसे संस्कृत में लिखा और उसका कारण यह बताया कि शिष्ट लोग संस्कृत के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को पसन्द नहीं करते। साथ ही इस बात का दावा भी किया कि प्राकृत-प्रेमी सज्जनों के लिये भी संस्कृत सुबोध पड़ेगी।

"अपभ्रंशस्तु यो भेदः षष्ठः सोऽत्र न लक्ष्यते।
देशभाषादितुल्यत्वान्नाटकादावदर्शनात्।
अनत्यन्तोपयोगाच्चातिप्रसंगभयादपि॥" (प्राकृत-चंद्रिका)

अपभ्रंश को भारत के शिष्ट समुदाय ने कभी विशेष महत्त्व नहीं दिया। उसका ध्यान बराबर संस्कृत पर बना रहा। राजपूतों के उदय से संस्कृत को और भी प्रोत्साहन मिल गया था और वह बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी। उसके प्रकाश में अपभ्रंश का प्रकाशित रहना संभव न था। वह जनसमाज में चल सकती थी। पंडित-मंडली में उसकी प्रतिष्ठा न थी। संस्कृत उसे भी समेट कर आगे बढ़ना चाहती थी कि फारसी ने उसे आ दबोचा। संस्कृत घिर गई और अपभ्रंश हिंदी के रूप में आगे बढ़ी।

यवनों के हाथ में शासन-सूत्र आया कि देशभाषाओं को स्वतंत्रता मिली। ठेठ* हिंदुस्तान के प्राच्य में बँगला, दक्षिण में मराठी और प्रतीच्य में गुजराती ने सम्पन्नता प्राप्त कर ली। राजभाषा फारसी से उनका कोई भी सीधा संबंध न था। उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना उनके लिये असंभव था। मुसलिम प्रचारक या संत सूफी भी स्थानीय देशवाणी को अपने प्रचार या उपदेश का साधन बनाते थे। उनके प्रयत्न से राष्ट्रभाषा का अहित हो रहा था। पर उतना न हो सका जितने की संभावना की जाती थी। उनका भी प्रधान केंद्र ब्रह्मर्षि देश ही था। उनके द्वारा भी उसी ब्राह्मी का प्रचार हुआ जो सदा से, किसी न किसी रूप में, समस्त देश की राष्ट्रभाषा रही है और फलतः आज भी है। उसी को आज हम आप हिंदी अथवा हिंद की राष्ट्रभाषा कहते हैं। उसी को कल मुसलमान भी मुल्की जबान कह रहे थे। अँगरेज़ों के आने और फारसी के उठ जाने से देश में 'इम्तयाज़' के लिये जो एक नई जबान ईजाद हुई उसी को आज भ्रम,

* ठेठ हिंदुस्तान से तात्पर्य आर्यावर्त्त के उस बड़े भूभाग से है जहाँ के लोग आज भी 'हिंदुस्तानी' कहे जाते हैं और हिंदी को अपनी मातृभाषा समझते हैं।

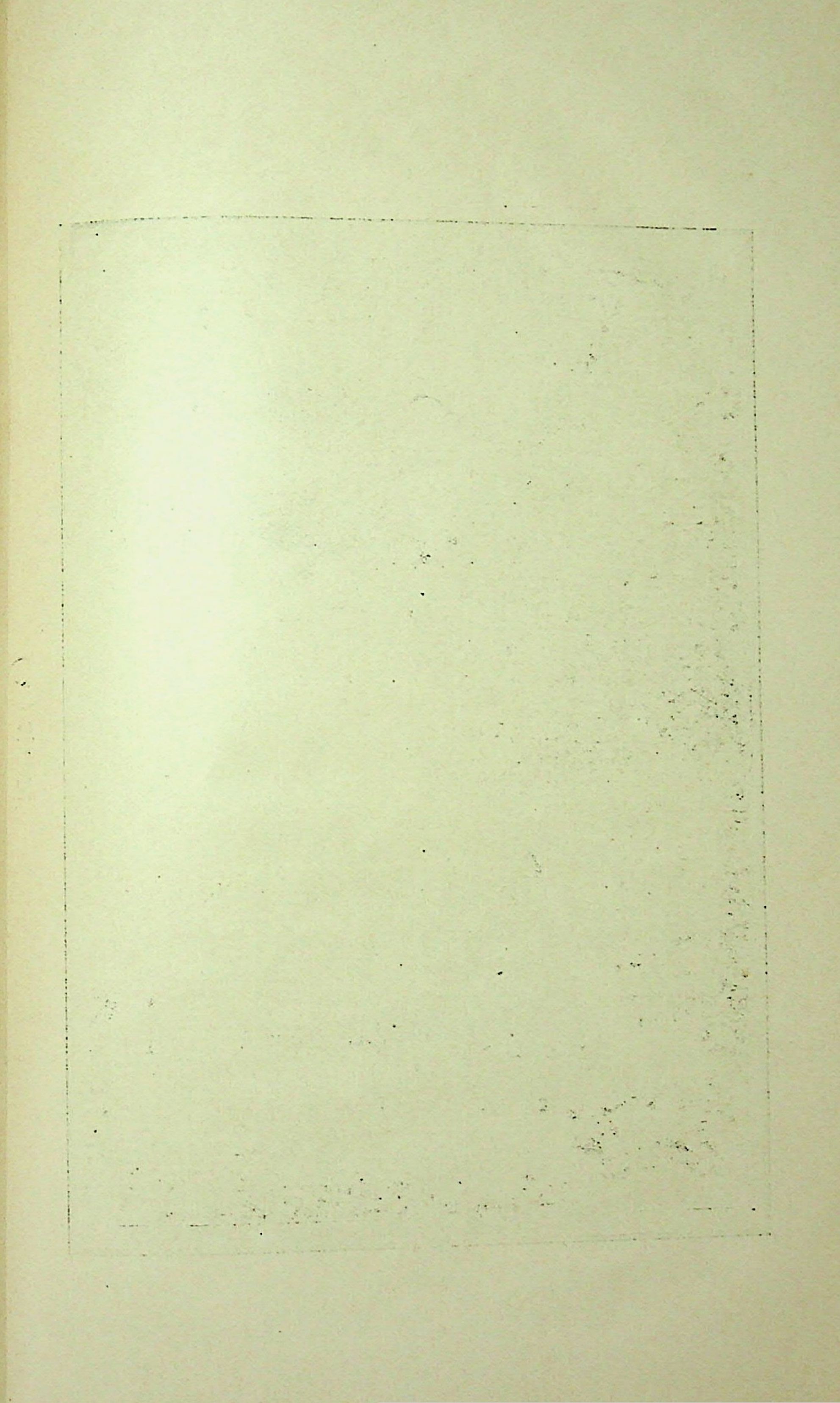
नीति अथवा प्रमाद-वश कुछ लोग 'मुल्की' या 'मुश्तरकः ज़बान' कह रहे हैं जिसमें सत्य का लेश भी नहीं है।

अल्बेरूनी (१०३० ई०) की गवाही[1] से सिद्ध होता है कि भारत में मुसलिम शासन स्थापित होने के पहले यहाँ पर एक ही भाषा के दो रूप प्रचलित थे। एक का प्रचलन जन-समाज में था और दूसरे का व्यवहार शिष्ट तथा शिक्षितों में। अर्थात् एक शिष्ट या 'द्विजी' भाषा थी तो दूसरी चलित या 'मानुषी' भाषा। दोनों का व्यवहार साथ-साथ चल रहा था। तुरुकों के शासक हो जाने से एक दूसरी शिष्ट भाषा का आगमन हुआ जो अँगरेजी के राजभाषा बनने के पहले यहाँ की शाही जबान थी।

इस तरह हम देखते हैं कि मुसलिम शासन में दो शिष्ट भाषाओं का प्रचलन था। एक का व्यवहार शिष्ट हिंदुओं में होता था तो दूसरी का शिष्ट यवनों में। जनता एक तीसरी ही भाषा का प्रयोग करती थी—उसी भाषा का जिसे हमने 'मानुषी' के सहज नाम से व्यक्त किया है। यवनों की शिष्ट भाषा का नाम फारसी था। वह केवल राजवर्ग की भाषा थी। नवागंतुक मुसलमान भी उसी का प्रयोग करते थे। पर देशी और पुराने मुसलमान जिस भाषा में भाषण करते थे उसका नाम रेखता (अपभ्रंश) या हिंदी (हिंद की भाषा) था। अर्थात् यही उस समय की 'मुश्तरकः ज़बान' थी। हिंदू-मुसलिम इसी को अपनाते थे। सचमुच यही मुसलिम काल की सच्ची राष्ट्रभाषा थी।

१—"Further, the language is divided into a neglected vernacular one, only in use among the common people, and a classical one, only in use among the upper and educated classes, which is much cultivated and subject to the rules of grammatical inflection and etymology, and to all the niceties of grammar and rhetoric." Alberunis' India, Dr. E. C. Sachan, London, Kegan Paul 1910 P. 18.

औरंगजेब की कट्टर कूटनीति तथा रूखे व्यवहार से फारसी कवियों की बाढ़ बंद सी हो गई। हिंदुओं के उत्थान, बाहरी हमलों एवं अँगरेजों के प्रताप से मुगलों का सितारा डूब गया। फारसी किसी की जबान न रही। दिल्ली-दरबार की जबान फारसी से 'उर्दू' हो गई। हिंदू जनता से 'इम्तयाज़' रखने के लिये उसमें से भाषा के हिंदी शब्द छाँट छाँटकर निकाले गए और उनकी जगह फारसी-अरबी के शुद्ध शब्द भर दिए गए। यही उर्दू यवनों की शिष्ट भाषा बनी। इसी को दरबारी हिंदुओं तथा अँगरेजों ने सीखा और प्रमादवश हिंदी जनता को सिखाना चाहा। सर सैयद अहमद खाँ की 'साइंटिफिक सोसाइटी' ने तो 'टवर्ग' तक पर हाथ लगाना चाहा पर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की कृपा से उसकी रक्षा हो गई।



नं. (१)

(४) अवंतिका के दो शिलालेख-खंड

[लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिषाचार्य]

इतिहास-प्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी की महत्ता के विषय में अनेक बार कहा जा चुका है। यहाँ की भूमि रत्नगर्भा है। वर्षाऋतु में यहाँ की 'गढ़' नामक प्राचीन ध्वंसावशेष नगरी के गढ़ों से प्रायः प्रतिवर्ष सिक्के, पात्र आदि उपलब्ध होते रहते हैं। इसी प्रकार महाकालेश्वर के निकटस्थ भू-भाग से भी सिक्के और शिलाखंड मिल जाते हैं। कुछ समय पूर्व ही यहाँ के भूस्तर के थोड़े से निम्न भाग में अनेक सिक्के, जो गधिया (गद्याण) नाम से प्रसिद्ध हैं, मिले हैं। इन सिक्कों के विषय में नागरीप्रचारिणी पत्रिका में हमने चर्चा की है। आज हम यहाँ इसी भू-भाग से उपलब्ध अभिनव ३ शिलाखंडों के अपूर्ण भागों पर चर्चा करेंगे। ये शिलाखंड ३ संख्या में होते हुए भी मालूम होता है कि एक ही विशाल शिलालेख के अस्त-व्यस्त खंड हैं। जिस प्रकार भोजराज की धारा नगरी में एक पूरा नाटक भोजशाला की जमीन और दीवारों से प्राप्त हो गया है, उसी प्रकार यहाँ भी महाकालेश्वर के निकट की भूमि से उपलब्ध होना संभव है।

प्राप्त शिलालेख का एक खंड त्रिकोणाकृति है, एक लंबा है, और एक छोटा सा है, जिसमें केवल कुछ अक्षर ही मालूम होते हैं।

(१) त्रिकोणाकृति शिलाखंड में १८-१९-२२ और २६ श्लोकों की संख्याएँ हैं, और इनमें श्लोक पूर्ण नहीं हैं।

(२) द्वितीय शिलाखंड में १९८ और २१३ श्लोक-संख्याएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं, किंतु उसमें बीच की संख्या शिला की लंबाई भंग हो जाने से ज्ञात नहीं होती, श्लोकांश अवश्य विदित होते हैं।

(३) तीसरे खंड में कोई श्लोक-संख्या नहीं है। परंतु तीनों खंड लिपि, प्रस्तर और अक्षर शैली की दृष्टि से एक ही बृहदाकार शिलालेख के खंड हैं। यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

ये तीनों शिला-खंड लिपि आदि की दृष्टि से १०वीं और ११वीं शती से ऊपर के ज्ञात नहीं होते।

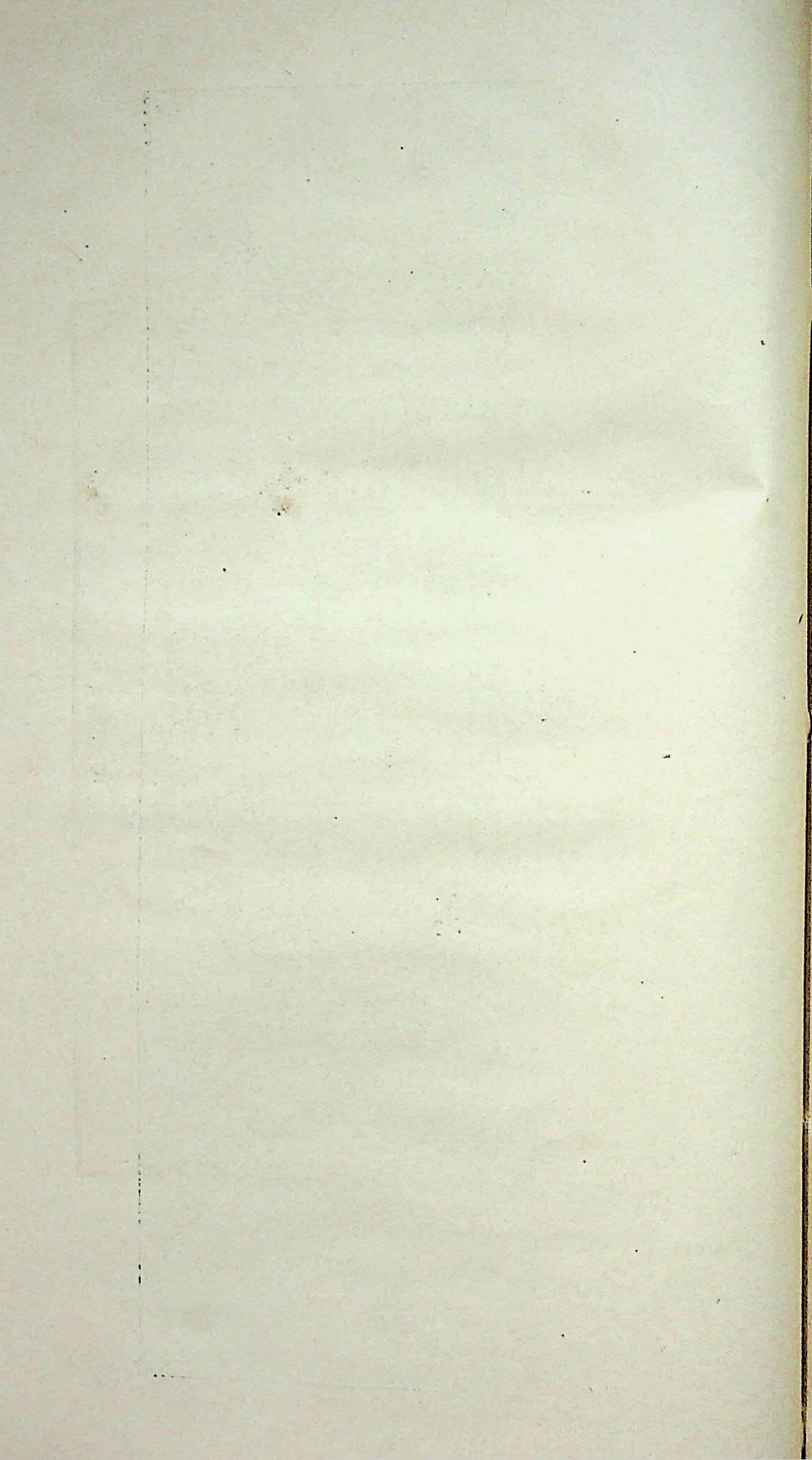
इन तीनों खंडों में से प्रथम त्रिकोणाकृति शिलाखंड कुछ महत्त्वपूर्ण अवश्य है। दूसरे, और तीसरे खंड में कोई खास बात प्रकट नहीं होती।

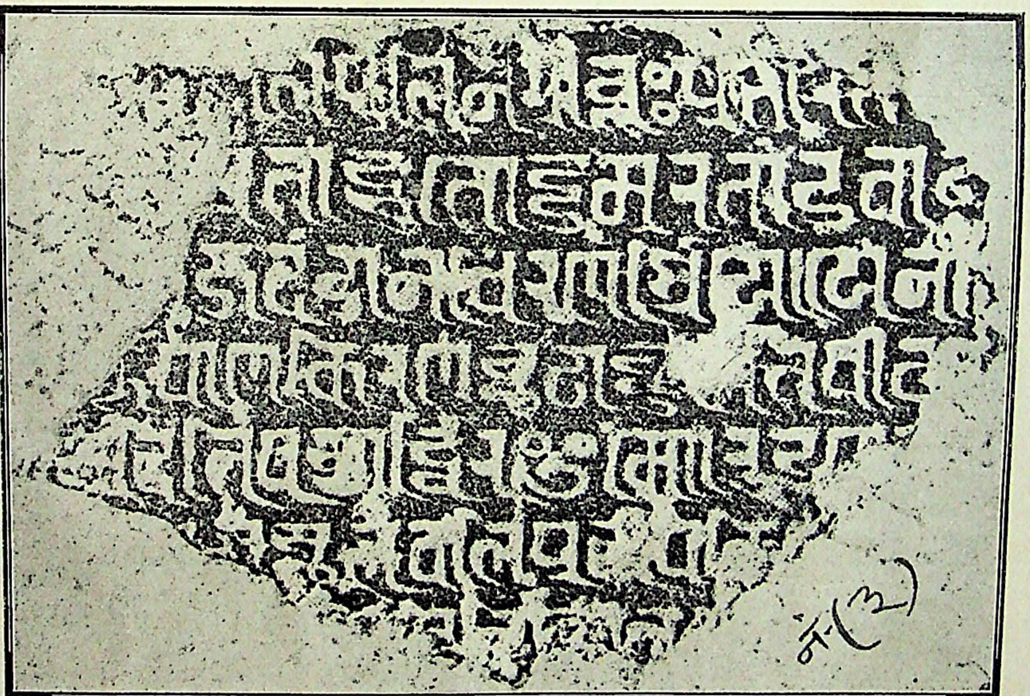
प्रथम त्रिकोणाकृति शिला में यद्यपि किसी राजा या राजवंश का नामोल्लेख नहीं है, तथापि उसमें आए हुए कुछ नामों से भौगोलिक उल्लेख अवश्य पाया जाता है। जैसे—साकेत (अर्थात्—अयोध्या) पर विजय-प्राप्ति, वहाँ के उपवनों में विहार, दक्षिण में मलयाचल, पश्चिम में द्वारका नगरी की सीमा और उत्तर में हिमालय-शिखर, इत्यादि। इसे किसी राजा के (चक्रवर्तित्व-प्राप्ति में) विजय से संबंधित होना चाहिए। इस खंड में एक शब्द ऐसा मिलता है जो कुछ विशेषार्थ रखता हो, "निर्वाण नारायण"। यह शब्द इतिहास से संबंधित हो सकता है अथवा संभव है कि यह किसी राजा ने अपने नाम के साथ पदवी लगा ली हो*। इस प्रकार यह विदित होता है कि यह शिलाखंड किसी विशालकाय सुंदर प्रशस्ति का एक भाग है, जिसमें २५०-३०० श्लोक होने चाहिए।

दूसरे खंड और तीसरे खंड में ऐसे किसी नाम, स्थान आदि का उल्लेख नहीं है कि कुछ पता चलाया जा सके। ये तो बीच के भग्नावशेष से हैं। यदि इस भू-भाग की खुदाई की जाय तो संभव है कि यह समस्त भव्य शिलालेख प्राप्त हो जाय और ऐतिहासिक तथ्य किसी आश्चर्य-जनक रूप में प्रकट हो जाय। साधारण राज-विजय-प्रशस्ति की अपेक्षा यह कोई साम्राज्य-विजय-प्रशस्ति ही होनी चाहिए।

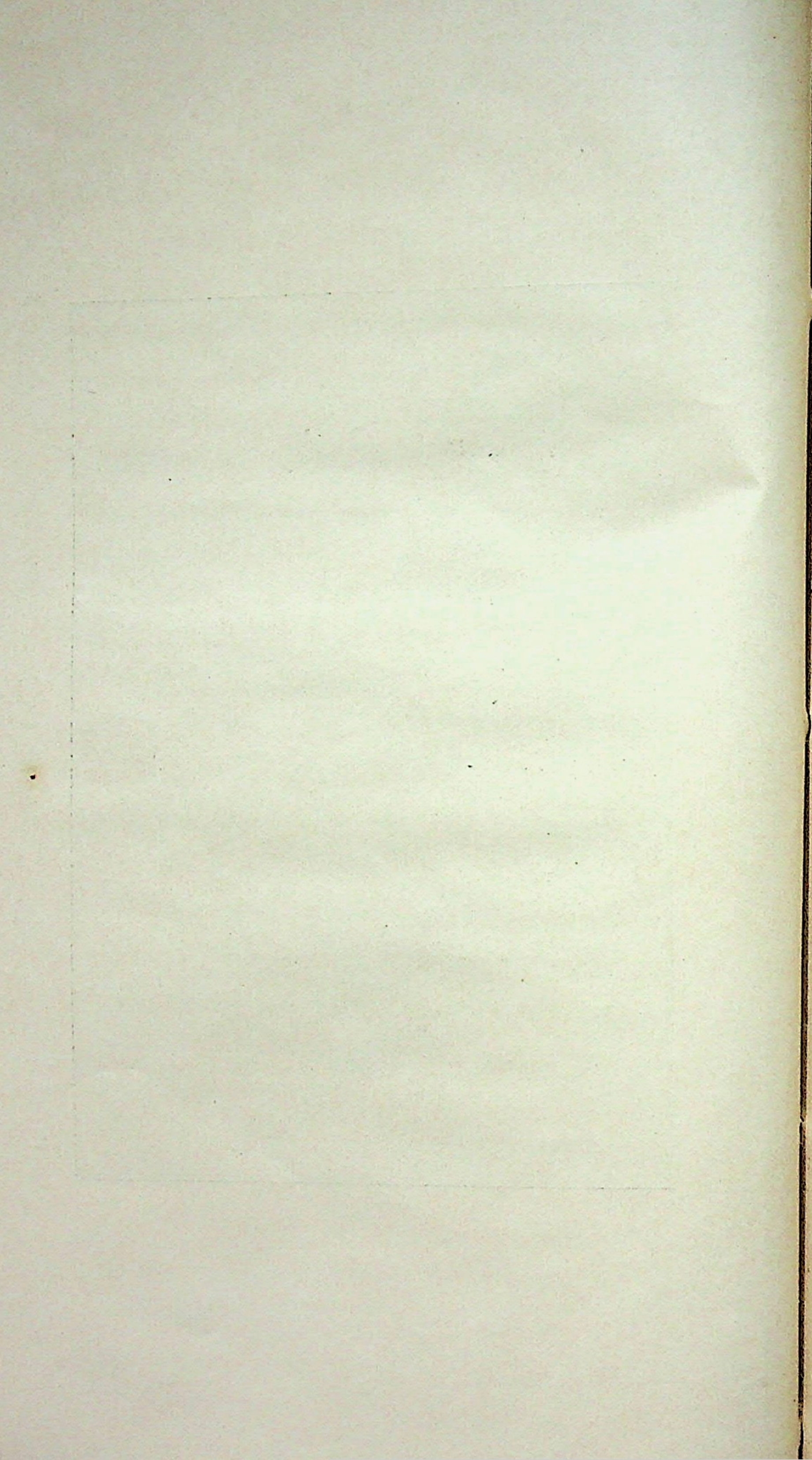
* 'निर्वाण नारायण' यह पद 'नरवर्मन्' परमार राजा ने लगाया था, ऐसा श्रीमान् के० एन्० दीक्षित महोदय का कथन है।

शिलाखंड (२)





शिलाखंड (३)



अब हम यहाँ उन खंडों के श्लोकांश यथाक्रम उद्धृत करते हैं। त्रिकोणाकृति शिलाखंड में जो श्लोकांश पढ़े जा सकते हैं, वे ये हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित (१) [व] गाह्य सरयूं जित्वा श्रमं सैनिकैः साकेता
प वना वनीषु कलि......

शिखरिणी— (२) ह्र क्लमं नीते कांतैः सह मलयकौले युवतिभिः
यदा तं काल्लं का

स्रग्धरा— (३) श्रुत्वा वृत्तमेतद्बलि [दम] न कृतः कीर्तितं पूर्व्व
विद्भिः पर्यन्ते द्वारका या

शार्दूलविक्रीड़ित (४) विदा नूनं येन हिमाद्रिमूर्ध्नि शि[थि] लो
चक्रेन को [ष] ग्रहः ॥ १८ ॥

,, ,, (५) १९ ॥ तस्मिन्विश्लेष शुष्यन्त्रिदिव पुर पु
[नः] प्रीति सत्रोत्स

,, ,, (६) ज श्रियः संयति प्रोत्खायोच्छ्रितोडु विभ्रम भृतामु

,, ,, (७) दरातयः ॥ २२ ॥ वैधव्यं विजयश्रियो रण भु [जि]

इन्द्रवज्रा— (८) पचर्य माणः । निर्वाण नारायण इत्ययं

शार्दूलविक्रीड़ित (९) लके नागास्त्रिशंकोर्द्दिशं ॥ २६ ॥

,, ,, (१०) रण मश्शृणिं ताह्य पीक

,, ,, (११) पाल भाल स्थली वि

,, ,, (१२) ण मालिनि

द्वितीय लंबे शिलाखंड के श्लोकांश—

(१) × × संचयं × × य रना यतो र्व्वी ॥ × × × न प्रकर
जल वयस्या सपत्प्रकष......

(२) × × १९८ ॥ तस्मिन्नेवाज्जित सुरजन प्रौढ वर्णो सुधर्मा-
मभ्यासीने हरति मधवस्वर्ग्ग सामान्य......

(३) × × संपादोन व्यत्यार [वा] तिः कियत्यपि च यस्या-
लिंगितुं शक्यते मर्यादापरि × × × × × ×

(४) × × कं विवेका दुरसिद्धि रसिकं लेनेत्रयो राद्धाति
॥ २१३ ॥ × × × × × × ×

(५) 'मर्ग' और 'खाल'

[लेखक—श्री जयचंद्र विद्यालंकार]

कश्मीर और कुमाऊँ दोनों में जो घूमें हों उन्हें आसानी से यह बात दिखाई दी होगी कि कश्मीरी 'मर्ग' और कुमाऊनी 'खाल' एक ही वस्तु है। दोनों का अर्थ एक ही है—पहाड़ के ऊपर का कोई छोटा सा लहरदार मैदान जो चरागाह के रूप में काम आता हो। कश्मीरी 'मर्ग' की व्युत्पत्ति डा० स्टाइन ने संस्कृत 'मठिका' से की है।* उस प्रकार की ऊँची ठंडी चरागाहों के बीच चरवाहे लोग अपनी झोंपड़ी या कुटिया (मठिका) डाल देते हैं, इसलिये लक्षणा से वैसी चरागाहों का नाम ही मठिका हो गया। 'मठ' (कोठरी) का कश्मीरी रूप 'मर' अभी तक प्रयुक्त है; इसी से डा० स्टाइन का कहना है कि 'मठिका' का रूपांतर 'मर्ग' है।

उसी अर्थ में कुमाऊँ में खाल शब्द क्यों चलता है, सो मेरी समझ में नहीं आता था। मेरे मित्र पं० गंगादत्त पाँडे ने हाल में मुझे बताया है कि वैसी चरागाहों के बीच पानी का कोई छोटा-मोटा जोहड़ (पोखरा) अवश्य रहता है, इसी से वे खाल कहलाती हैं। यह व्याख्या सर्वथा सार्थक है। व्रजभाषा में खार शब्द बरसाती नाले के अर्थ में प्रयुक्त है। बँगला 'खाल' का भी ठीक वही अर्थ है। इस प्रकार व्रज और बंगाल के 'खार' या 'खाल' और कुमाऊनी 'खाल' का मूल एक ही है। पर लक्षणा से कुमाऊनी 'खाल' का अर्थ सर्वथा विभिन्न हो गया है।

काशी, २५. ३. ९५।

—

* राजतरंगिणी का अनुवाद, २, ४०६।

(६) गुप्त-कुंतल संबंध

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन काल में बंबई प्रांत का दक्षिणी भाग तथा मैसूर का उत्तरी प्रदेश 'कुंतल' के नाम से प्रसिद्ध था। मैसूर गज़ट में वर्णन आता[१] है कि कुंतल भीमा तथा वेदवती नदियों के मध्य भाग का नाम था। पश्चिम की ओर घाट अवस्थित है जिसमें सिमोगा, चितलदुर्ग, वेलारी, धारवार तथा बीजापुर के जिले सम्मिलित हैं। इस प्रदेश का शासन ईसा की दूसरी शताब्दी तक सातवाहन वंश के हाथ में था। अपरांत कर्नाट तथा मैसूर प्रांत के उत्तर में उपलब्ध लेखों में शातकर्णी नामक वंश का वर्णन मिलता है[२] जो कुंतल पर शासन करता था। मत्स्य-पुराण में इसी वंश के दो शातकर्णी का उल्लेख आता है। सातवाहन के पश्चात् यह प्रांत चूट्टू लोगों के अधिकार में आ गया जो मैसूर पर अधिक समय तक शासन करते रहे। अनेक चूट्टू शासकों के सिक्के अनंतपुर के जिले में मिले हैं[३]। मल्लवल्ली नामक स्थान पर उनकी एक प्रशस्ति[४] भी मिली है जिससे प्रकट होता है कि कुंतल प्रांत पर चूट्टू नरेशों का अधिकार अधिक समय तक रहा।

चूट्टू नरेशों के पश्चात् कुंतल प्रांत किस वंश के अधिकार में आया, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अजंता[५] तथा बालाघाट[६] के लेखों

१—मैसूर गज़ट १ पृ० २८६।

२—काव्यमीमांसा पृ० ५०।

३—रैप्सन—आंध्र सिक्कों की सूची।

४—एपिग्राफिका कर्नाटिका भा० ७ पृ० २६३।

५—आर्के० सर्वे पश्चिमी भारत भा० ४।

६—एपि० इंडिका ६ पृ० २०७।

के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि कुंतल पर वाकाटक राजाओं का शासन चूटुओं के पश्चात् निश्चित रूप से हो गया था। वाकाटक रुद्रसेन को गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने पराजित किया था, उसके बाद पृथ्वीषेण का अधिकार कुंतल पर हुआ होगा। साहित्यिक प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि प्रवरसेन नामक राजा कुंतलेश के नाम से प्रसिद्ध था। सेतुबंधकाव्य में केवल कुंतलेश का उल्लेख मिलता है—

"जलाशयस्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरिचौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलङ्कान्तमपूर्वसेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुंतलेशः॥"

हर्षचरित की भूमिका में बाण ने सेतुबंधकाव्य का रचयिता प्रवरसेन को माना है—

"कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥"

इस प्रकार प्रवरसेन नामक राजा कुंतलेश समझा जाता है। परंतु यह कौन प्रवरसेन है, इसमें विवाद है। पृथ्वीषेण ने तो कुंतल पर अपना अधिकार स्थापित किया, अतएव यह प्रवरसेन द्वितीय ही माना जा सकता है, जो ई० सन् ४०० के समीप शासक बना। कल्हण ने राजतरंगिणी में एक प्रवरसेन नामक काश्मीर नरेश का उल्लेख किया[१] है जिसने वितस्ता नदी पर एक पुल का निर्माण किया था। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं है कि यह दोनों प्रवरसेन भिन्न व्यक्ति हैं। वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय रुद्रसेन का पुत्र था और काश्मीर का राजा प्रवरसेन मेघवाहन का लड़का था। कुछ लोगों की धारणा है कि सेतुबंधकाव्य को महाकवि कालिदास ने तैयार किया और वाकाटक राजा को समर्पित कर दिया। साहित्यिक बातों से पूर्णतया निश्चित करना अत्यंत कठिन है कि कुंतलेश का नाम क्या था। बाण-कथित प्रवरसेन काश्मीर का शासक था या वाकाटक राजा था यह उस पद्य से प्रकट नहीं होता है। शिलालेखों (अजंता या बालाघाट) के

१—राजतरंगिणी ३, ९७, १०९

आधार पर यह ज्ञात होता है कि चूटू शासकों के पश्चात् कुंतल वाकाटक अधिकार में चला गया था। अजंता के लेख के आधार पर यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीषेण ने कुंतल पर विजय प्राप्त की थी। परंतु यह कहना कठिन है कि कुंतल पर यह अधिकार कितने समय तक रहा। संभवतः कुछ ही वर्षों के बाद कुंतल वाकाटकों के हाथ से निकल गया।

चूटू राजाओं की मल्लवल्ली की स्तंभप्रशस्ति का उल्लेख किया जा चुका है। उसी स्तंभ पर एक और लेख खुदा है जिसमें शासक का नाम उल्लिखित नहीं है। परंतु एक ही स्तंभ पर खुदे होने के कारण दोनों लेख समीप के ज्ञात होते हैं। संभवतः अज्ञात राजा चूटू के बाद इस प्रांत का शासक हो गया। मैसूर के चंद्रवल्ली नामक स्थान में एक स्तंभ-लेख मिला[1] है जिसमें कदंबवंशीय राजा मयूरशर्मन् का नाम उल्लिखित है। इस लेख की भाषा (प्राकृत), तिथि-उल्लेख तथा लिपि मल्लवल्ली के अज्ञात राजा के लेख से मिलती है। अतएव यह दोनों स्तंभलेख समकालीन मालूम पड़ते हैं। इस आधार पर मयूरशर्मन् ही दोनों लेखों का कर्त्ता होता है। यह भी प्रकट है कि कुंतल प्रदेश पर चूटू लोगों के अनंतर कदंबवंश का चिर अधिकार स्थापित हो गया, यद्यपि कुछ काल तक वाकाटक नरेश शासन करता रहा।

कदंब राजा मयूरशर्मा किस गुप्त नरेश के समकालीन था, यह विषय विवादग्रस्त है। गोपालन तथा मोरेस मयूरशर्मा को गुप्त शासक समुद्रगुप्त के समकालीन मानते हैं। परंतु इस मत के मानने में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। इस वंश के विस्तृत इतिहास से यहाँ प्रयोजन नहीं है। मयूरशर्मा की समकालीनता सिद्ध करने के प्रमाणों को यहाँ बतलाना आवश्यक नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि समुद्रगुप्त से पूर्व काल में मयूरशर्मा शासन करता रहा। इस

१—आर्के० सर्वे० मैसूर १९२९ पृ० ५०—

"कदम्बानां मयूरशर्माणां विनिम्य तडाक-दूभ-त्रैकूट-आभीर-पल्लव-परियात्रिक-सकस्थान-सैन्दक-पुनाट-मोकरिणाम्।"

गुप्त राजा के समकालीन उस कदंब नरेश के पुत्र तथा पौत्र होंगे। मयूरशर्मा का प्रपौत्र ककुस्थवर्मा था। इसी के लेख से ज्ञात होता है कि कदंब नरेश ने अपनी पुत्री का विवाह गुप्त वंश में किया था[१]। ककुस्थवर्मन् गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन ज्ञात होता है[२]। यही गुप्त-कुंतलों का प्रथम संबंध था।

दूसरा संबंध काव्य के आधार पर स्थापित किया जाता है। राजा भोज के शृंगार-प्रकाश के आठवें प्रकाश में एक संदर्भ मिलता है। उस स्थान पर कालिदास तथा विक्रमादित्य में कुंतल नरेश के विषय में वार्त्तालाप का निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

"असकलहसितत्वात् चालितानीव कान्त्या,
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभार: कुन्तलानामधीश: ॥"

अर्थात् हे राजन्, कुंतल नरेश कामी तथा व्यसनी शासक है। उसने आप ही के ऊपर समस्त राजकार्य का भार छोड़ दिया है। इसके आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य के राजदूत बनकर कुंतल राजा की सभा में गये थे। इसकी पुष्टि चेमेंद्र कृत 'औचित्य-विचार-चर्चा' से होती है। इस पुस्तक में वर्णित बातों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि कालिदास ने किसी 'कुंतलेश्वर-दौत्य' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इस पुस्तक के नाम से ही ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास कुंतल राजा के पास दूत बनकर गए थे। चेमेंद्र ने अपनी पुस्तक में कालिदास के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है—

१—तालगुंड का लेख (एपि० इंडिका भा० ८ पृ० २४)—

"गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसम्भ्रमकेसरानि।
श्रीमन्त्यनेकनृपपट्पदसेवितानि यो बोधयेत् दुहितृदीधितिभिर्नृपार्क्कः॥"

२—इं० हि० क्वा० भा० ६ पृ० १९७–२०१।

"इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥"

कहा जाता है कि कालिदास जब दूत बनकर कुंतल-राजसभा में पहुँचे तो पृथ्वी पर ही बैठ गए। इस पर राजा ने उच्च आसन देने के लिये आग्रह किया। कवि ने उत्तर दिया कि जहाँ पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु तथा सातों समुद्र हैं, वह स्थान मेरे लिये भी अनुपयुक्त नहीं है, अर्थात् पृथ्वी पर बैठने में कोई असम्मान की बात नहीं।

यद्यपि मौलिक ग्रंथ का पता नहीं लगा है तथापि इन संदर्भों के आधार पर स्थिर किया जाता है कि महाकवि कालिदास, विक्रमादित्य की आज्ञा से, कुंतल के दरबार में राजदूत बनकर गए थे। काल-क्रम के अनुसार गुप्त तथा कुंतल का यह प्रथम संबंध है। इसके पश्चात् ही कुंतल-नरेश ककुस्थवर्मा ने अपनी पुत्री का विवाह गुप्त वंश में किया। इस वैवाहिक संबंध से मैत्री और भी दृढ़ हो गई। कालिदास के उपर्युक्त दौत्य-कर्म से यह अनुमान किया जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाकाटकों की राजधानी में स्थित होकर यह कार्य किया था। यह बात प्रकट है कि उसके जामाता रुद्रसेन द्वितीय के पश्चात् वाकाटक राज्य का शासन-प्रबंध गुप्तों द्वारा ही होता था। अतः यह संभव है कि वाकाटक राज्य में ठहरकर उसने कालिदास को राजदूत के रूप में भेजा हो। जो हो, परंतु गुप्त-कुंतल-संबंध की बातें उपरि-कथित दोनों बातों से स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

चयन

चंद्रगुप्त मौर्य के संबंध में खोज

भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट के मुखपत्र, खंड १८ भाग २ में श्री हरिश्चंद्रजी सेठ एम० ए०, पी-एच० डी० ने एक लेख प्रकाशित करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वस्तुतः चंद्रगुप्त मौर्य का न तो नंद वंश के साथ ही कोई संबंध था और न वह मगध का ही रहनेवाला था; वह उत्तर-पश्चिमी भारत का रहनेवाला था और संभवतः उसी का दूसरा नाम शशिगुप्त था। पत्रिका के पिछले अंक (भाग १८—अंक ४) में प्रकाशित डा० सेठ के लेख, 'अलेक्जेंडर की भारत में पराजय और दुर्गति', की यह पूर्ति करता है। अतः इस लेख की मुख्य मुख्य बातें यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

सबसे पहले विंसेंट स्मिथ ने लोगों में यह भ्रम फैलाया था कि चंद्रगुप्त मगध के नंद राजाओं का एक वंशधर था और मुरा नाम की दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसके इस विचार का मूल आधार यह था कि विशाखदत्त के मुद्रा-राक्षस नामक नाटक का जो परिचय सन् १७१३ ई० में ढुंढिराज ने लिखा था, उसी में ये सब बातें लिखी हुई थीं। परंतु इस विषय का इससे पहले का और कोई ऐसा प्रामाणिक तथा संतोषजनक उल्लेख नहीं मिलता, जिससे इस मत की पुष्टि हो सके। इसमें संदेह नहीं कि मुद्राराक्षस में भी एक दो स्थानों में कुछ ऐसी बातें आई हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त का नंदों के साथ कुछ संबंध था। पर साथ ही इस नाटक के अन्य स्थानों में कुछ ऐसी बातें भी आई हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि चंद्रगुप्त न तो मगध का रहनेवाला था और न नंदों के साथ उसका कोई संबंध ही था। अंतिम दृश्य में, जहाँ चाणक्य, चंद्रगुप्त और राक्षस एक साथ आते हैं वहाँ, ऐसा जान पड़ता है कि राक्षस ने चंद्रगुप्त और चाणक्य

को उसी समय पहले-पहल देखा था। यदि चंद्रगुप्त वस्तुतः मगध का रहनेवाला और नंदों का वंशधर होता, तो अवश्य ही राक्षस बहुत पहले से उससे परिचित होता। इसके अतिरिक्त चाणक्य ने तो नंद वंश का समूल नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। यदि चंद्रगुप्त भी नंदों का ही वंशधर होता, तो चाणक्य उसे कभी मगध के सिंहासन पर न बैठाता। इस विषय में राक्षस के आचरण की भी संगति नहीं बैठती। वह नंद वंश का परम भक्त था। यदि चंद्रगुप्त भी नंदों का ही वंशधर होता, तो राक्षस उसका विरोध न करता और मगध के सिंहासन पर मलयकेतु को, जो विदेशी और म्लेच्छ था, बैठाने के लिये तैयार न होता।

एक बात और है। अंतिम नंद राजा सर्वार्थसिद्धि, ढुंढिराज के अनुसार, चंद्रगुप्त का दादा होता था। लेकिन जब सर्वार्थसिद्धि मारा गया, तब तो चंद्रगुप्त ने कुछ भी न किया; और उसके साथी पर्वतक के मारे जाने पर चंद्रगुप्त ने उसकी अंत्येष्टि तक की थी। इससे सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त का नंदों के साथ कोई संबंध नहीं था और कदाचित् पर्वतक के साथ ही विशेष संबंध था।

वायु, विष्णु, मत्स्य, ब्रह्मांड और भागवत आदि पुराणों में चंद्रगुप्त के संबंध में इतना ही उल्लेख है कि उसने अपने अमात्य कौटिल्य की सहायता से नंद वंश का नाश करके मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की थी। उनमें इस बात का कहीं कोई संकेत तक नहीं मिलता कि नंदों के साथ चंद्रगुप्त का किसी प्रकार का संबंध था। पुराणों में इस बात का उल्लेख तो है कि महापद्मनंद शिशुनाग वंश के महानंदिन् की उपपत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। परन्तु चंद्रगुप्त के संबंध में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। यदि सचमुच चंद्रगुप्त भी इसी प्रकार नंद का दासीपुत्र होता तो पुराणों में इस बात का भी उल्लेख अवश्य होता।

जिन प्रमाणों के आधार पर डा० सेठ इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चंद्रगुप्त वस्तुतः उत्तर-पश्चिमी भारत का रहनेवाला था, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) पाटलिपुत्र की खुदाई में चंद्रगुप्त के जो प्रासाद निकले हैं, वे सब पारसी ढंग के हैं और परसेपोलिटन की नकल मालूम होते हैं। उसने भारत में जो बृहत् साम्राज्य स्थापित किया था, वह भी पारसीक साम्राज्य के ढंग का था। इससे सिद्ध होता है कि पारसीक साम्राज्य के साथ उसका घनिष्ठ वैयक्तिक परिचय था।

(२) सीरिया के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एप्पियन (समय ई० दूसरी शताब्दी का पहला चरण) ने चंद्रगुप्त के संबंध में लिखा है— "वह भारतीयों का राजा था जो सिंधु के पास रहता था।"

(३) सिकंदर ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया था, उस समय चंद्रगुप्त उत्तर-पश्चिमी प्रांत में था। यदि वह मगध का रहनेवाला था तो उस समय वह वहाँ किस प्रकार पहुँचा ? आधुनिक इतिहास-लेखकों ने इस समस्या का निराकरण एक ऐसे ढंग से किया है जो बिलकुल असंबद्ध और अविश्वसनीय जान पड़ता है। उस समय चंद्रगुप्त की अवस्था बीस वर्ष से भी कम रही होगी। परंतु कहा जाता है कि जब मगध में नंद का राज्य नष्ट करने में वह विफल हुआ, तब वह भागकर पंजाब चला गया। जब सिकंदर भारत से चला गया, तब उसने सहज में अश्मकों, मल्लों और पुरु सबको अपने अधीन कर लिया। इन्हीं लोगों ने सिकंदर का सबसे ज्यादा मुकाबला किया था। अतः सहसा इस बात पर विश्वास नहीं होता कि जिन लोगों को सिकंदर भी अपने अधीन नहीं कर सका था, उन्हें एक ऐसे नव-युवक ने अपने अधीन कर लिया, जो मगध से भागकर आया था और जिसके पूर्वजों या मूल निवास-स्थान के संबंध में लोग कुछ भी नहीं जानते थे। यह बात तो तभी मानी जा सकती है, जब यह भी मान लिया जाय कि चंद्रगुप्त मगध का रहनेवाला नहीं था, बल्कि उन्हीं उत्तर-पश्चिम-वासियों में से एक था।

(४) भारत के समस्त पश्चिमी सीमा-प्रांतों पर चंद्रगुप्त मौर्य और उसके वंशधरों का बहुत दिनों तक अधिकार बना रहा था। सबसे पहले मौर्यों के समय में ही भारत की यह पश्चिमी प्राकृत सीमा

भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित हुई थी। इस प्रदेश पर पूरा पूरा अधिकार स्थापित करने में न तो मुगलों को ही सफलता हुई थी और न अँगरेजों को ही हुई है। इससे भी यही अनुमान होता है कि चंद्रगुप्त पश्चिमी भारत का रहनेवाला था और इसी लिये वह वहाँ के वीर निवासियों को अपने वश में रख सका था।

(५) सिकंदर के भारत से जाते ही चंद्रगुप्त ने पंजाब में ग्रीक शक्ति का मूलोच्छेद कर दिया था, बल्कि उसके भारत छोड़ने के पहले ही उसके नियुक्त किए हुए अधिकांश ग्रीक क्षत्रप मार डाले गए थे। विंसेंट स्मिथ आदि का यह कहना ठीक नहीं है कि सिकंदर के जाने के कई वर्ष बाद चंद्रगुप्त ने मगध से आकर पंजाब की यूनानी सेनाओं का नाश किया था। वस्तुत: सिकंदर के भारत से प्रस्थान करने के कुछ महीनों के अंदर ही पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी शक्ति शायद ही कहीं नाम को रह गई थी।

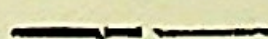
अब यदि यह मान लिया जाय कि चंद्रगुप्त उत्तर-पश्चिमी भारत का ही रहनेवाला था, तो प्रश्न होता है कि यह चंद्रगुप्त कौन था। इस संबंध में डा० सेठ का मत है कि यह वही शशिगुप्त है, जिसका राज्य सिकंदर के समय में हिंदूकुश के पूरब में था और जिसे यूनानियों ने सिसिकोट्टोस कहा है। सिकंदर के मुकाबले में पारसवालों की सहायता करने के लिये वह अपनी सेना लेकर बैक्ट्रिया गया था। लेकिन जब पारसी परास्त हो गए, तब वह सिकंदर से मिल गया था। हिंदूकुश और सिंध के बीचवाले प्रदेश में अश्मकों ने सिकंदर का जबर-दस्त मुकाबला किया था। परंतु सिकंदर ने उस प्रदेश पर विजय प्राप्त करके उसे शशिगुप्त के अधीन कर दिया था; और तब उसने सिंधुनद पार किया था। सिकंदर जिस प्रदेश पर विजय प्राप्त करता था, उसी प्रदेश के किसी सरदार को वह प्रदेश सौंप दिया करता था। अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि शशिगुप्त ने वहीं से आगे बढ़-कर सिकंदर की शक्ति का नाश किया था और तब उसने चाणक्य की सहायता से मगध पर भी विजय प्राप्त की थी। और जैसा कि मुद्रा-

राक्षस से प्रकट है, इस काम में पंजाब और सिंध के राजाओं ने उसकी सहायता की थी।

इस प्रकार संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि चंद्रगुप्त वस्तुतः यही शशिगुप्त था और अश्मक क्षत्रियों का सरदार था। जब मौर्यों ने भारत के अन्यान्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त की, तब कई प्रदेशों में अश्वक या अश्मक लोग बस गए थे। यहाँ तक कि बौद्ध साहित्य में गोदावरी के तट पर भी दक्षिणी अश्मक देश का उल्लेख मिलता है। रैप्सन ने लिखा है कि शूरसेनों की भाँति हैहय, अश्मक और वीतिहोत्र भी यदु के वंशधर अर्थात् चंद्रवंशी थे। और मेगास्थिनीज ने लिखा है कि चंद्रगुप्त चंद्रवंशी था।

एक बात और है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "मुरा" की संतान का नाम "मौर्य" नहीं हो सकता—वह "मौरेय" होना चाहिए। हिंदूकुश और सिंध के बीच के जिस प्रदेश में बहुत दिनों तक अश्मकों का राज्य था, उस प्रदेश में इस समय भी 'कोहे मोर' नाम का एक पर्वत वर्त्तमान है, जिसे यूनानी मेरोस कहते थे और जो कदाचित् संस्कृत का मेरु भी हो सकता है। और संभवतः इसी पर्वत के नाम पर चंद्रगुप्त ने अपने वंश का नाम "मौर्य" रखा होगा।

कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि शशिगुप्त से चंद्रगुप्त हो जाना कुछ भी कठिन नहीं है।



देवनागरी और भारत के मुसलमान शासक

बिहार ऐंड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल, खंड २३, भाग ४ में डा० हीरानंद शास्त्री महोदय का उपर्युक्त शीर्षक का एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। यहाँ हम उसका अनुवाद देते हैं:

"मौर्यकाल में भारतवर्ष में एक सामान्य वर्णमाला प्रचलित थी, यह बात पुरातत्त्ववेत्ताओं अथवा अभिलेखों के ज्ञाताओं को, जिन्होंने प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखे अभिलेखों का अध्ययन किया है, विदित है। भारतवर्ष का अर्थ यहाँ इसी नाम से ज्ञात इस भूखंड का कोई भाग-विशेष नहीं है, किंतु कुमारी अंतरीप से हिमालय प्रदेश तक विस्तृत यह समस्त विशाल देश है। महान् मौर्य सम्राट् अशोक ने इस समस्त भूखंड पर शासन न किया हो, परंतु अपने प्रख्यात धर्मलेखों में उसने जिस वर्णमाला का उपयोग किया वह उसके विशाल साम्राज्य से बाहर के प्रदेशों में स्वतंत्र व्यक्तियों के द्वारा भी व्यवहृत होती थी। सिंहल में भी उन दिनों यही लिपि चलती थी। भारतवर्ष के दूर दक्षिण में, अर्थात् तिरुनेवली (तिनेवेली) प्रांत में, अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो मौर्यशैली की ब्राह्मी लिपि में लिखे गए थे। ऐसे ही लेख सिंहल में भी मिले हैं। यह लिपि स्पष्टतः इस कारण व्यवहृत होती थी कि उन प्रदेशों के निवासी इसे पढ़ सकते थे। इससे अनेक वर्णमालाएँ उद्भूत हुईं जो विभिन्न प्रांतों में चल पड़ीं। वर्णों के रूप धीरे धीरे परिवर्तित हो गए। परंतु वे परिवर्तन ही हैं और जननी लिपि ब्राह्मी है जो एक समय समस्त भारत की सामान्य लिपि थी। एक साधारण तुलना इस बात को स्पष्ट कर देगी। यहाँ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं।

विकसित लिपियों में एक का नाम देवनागरी या नागरी है। इसका यह नाम क्यों है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता,

परंतु यह नागरों की अथवा बहुत सभ्य लोगों की वर्णमाला थी। ईसा की ७वीं शताब्दी में इस वर्णमाला ने अपना निश्चित रूप बना लिया था—इतना कि 'उष्णीषविजयधारिणी' की हस्तलिखित प्रति के साथ, जो 'होराउजीतालपत्र' के नाम से प्रसिद्ध अन्य प्रतियों के साथ जापान भेजी गई थी और जो जापानी अनुश्रुति के अनुसार निश्चय से ईसा की ६ठी शताब्दी के अपरार्ध में वर्तमान थी, इसका एक चित्र लगा दिया गया था। स्वर्गीय डा० ब्यूलर का इस वर्णमाला के संबंध में कथन है कि "यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि आधुनिक देवनागरी से बहुत मिलती हुई एक वर्णमाला ७वीं और ८वीं शताब्दियों में और संभवतः इससे और पहले अवश्य साधारणतया व्यवहृत होती थी।" राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग का समंगढ़ दानपत्र, जो ७५४ ई० का है, यह प्रमाणित करेगा कि यह ईसा की ८वीं शताब्दी में इस रूप में हो गई थी। ब्यूलर ने इस बात को भारतीय लिपिमाला-विषयक अपने महान् ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया है। ईसा की १०वीं शताब्दी के लगभग यह लिपि स्थिर हो गई और इसने वह रूप धारण कर लिया जो चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। हल्के विभेद कभी कभी दिखाई देते हैं, परंतु वे व्यक्तिगत और रुचि-वैचित्र्यगत हैं। उदाहरणार्थ, इन वर्णों को लिखने का जैन लोगों का अपना ही ढंग था। उन्हें सरलता से पढ़ने के लिये अभ्यास की अपेक्षा है। इस्लाम के आगमन के समय देवनागरी या नागरी का एक स्थिर रूप व्यवहार में था और यह मुख्यतः उत्तर भारत में चलता था, यद्यपि इसके प्रयोग के उदाहरण दक्षिण में भी मिलते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जैन इसे बहुत चाहते थे और अपने ग्रंथ तथा पत्र इसी में लिखते थे। मेरे पास १७८० विक्रमी (=१७२३ ई०) के जैन हस्तलिखित ग्रंथ हैं जो औरंगाबाद में इसी वर्णमाला में लिखे गए थे, यद्यपि उस समय वहाँ के लोगों की लिपि नागरी नहीं कनाड़ी थी। यही नहीं, वे हिंदी काव्य के प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। सबसे पुराने दोहे, जिनका अब तक पता लगा है, जैनों के द्वारा लिखे गए थे। इस

बात का उस बहुश्रुत विद्वान्, हिंदी के सुप्रसिद्ध समर्थक, मेरे स्वर्गीय प्रिय मित्र, नहीं भाई डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने, जिनकी स्मृति में ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं, विशद उल्लेख किया है। यदि मैं भ्रम में नहीं हूँ तो हिंदी में सबसे पुरानी पद्यरचनाएँ जैन मुनियों की लेखनी से प्रसूत हैं। इसके लिये हिंदी के हिमायती उनके प्रति नत-मस्तक होंगे। ये रचनाएँ निस्संदेह प्राकृत में हैं, परंतु वह प्राकृत हिंदी की सगी है, इसकी पूर्वजा है। परंतु यह यहाँ विचार्य विषय नहीं है। बात यह है कि यद्यपि उत्तर में अनेक छोटी लिपियाँ थीं, परंतु मुसलमान-आक्रमण के समय देश के शासकों के द्वारा व्यवहृत मुख्य वर्णमाला देवनागरी थी। अलबेरूनी, वह प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् जो महमूद गजनवी के आक्रमणों में उसके दल के साथ था, अपने 'तहक़ीके हिंद' में, जो १०३० ई० के लगभग पूरा हो गया था और जो हिंदू आचार, विज्ञान और साहित्य के वर्णन के विचार से बहुत ही मूल्यवान् है, इसके विषय में कहता है कि "हिंदू एक बार लेखन-कला भूल गए थे; एक दिव्य प्रेरणा के द्वारा पराशर के पुत्र व्यास ने इसे फिर उपलब्ध किया।" महान् मुसलमान संस्कृतज्ञ के इस कथन से प्रकट होगा कि उसके काल में देवनागरी हिंदुओं की सामान्य लिपि थी। महमूद ने अवश्य इसे भारत की मुख्य वर्णमाला माना होगा और इसी से उसने अपने विख्यात चाँदी के सिक्के में, जिसे उसने ४१८ हिजरी (=१०२७ ई०) में महमूदपुर या लाहोर से चलाया था, इसे प्रयुक्त किया। वह सिक्का प्रकाशित हो चुका है। उसने कलिमा संस्कृत में अनूदित कराया और उसे सिक्के के मुखपत्त्र में इसी लिपि में, जो उसके लिये काफिरों अथवा मूर्तिपूजक नास्तिकों की लिपि थी, अंकित कराया। वह इस प्रकार है—

'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद'

'ईश्वर एक अदृश्य है, मुहम्मद उसका प्रतिनिधि, महमूद राजा।'

पीछे अंकित है, 'अयं टंकम् महमूदपुरघटिते हिजरियेन संवति ४१८', अर्थात् यह सिक्का महमूदपुर (या लाहोर) में हिजरी सन् ४१८ में

ढला था। संस्कृत सदोष है, किंतु इस प्रसंग में इसका कोई महत्त्व नहीं है। यह तथ्य स्थिर रहता है कि महमूद गजनवी जैसे महत्वाकांक्षी ने, जिसके हृदय में हिंदुओं के लिये कोई स्नेह नहीं था, अपने सिक्के पर उनकी लिपि का प्रयोग किया और इसमें पवित्र कलिमा लिखवाया।

दिल्ली के सुल्तान बादशाह मुहम्मद बिन साम ने अपने सोने के सिक्कों के मुखपत्त में संपत्ति की देवी लक्ष्मी की मूर्ति तक रखने की अनुमति दी और दूसरे पक्ष में 'श्रीमुहम्मदविनिसाम्' यह गाथा लिखवाई। शम्सुद्दीन अल्तमश (१२१०-३५ ई०) और रुक्नुद्दीन फीरोजशाह (१२३५-३६ ई०) के सिक्कों में गाथाएँ देवनागरी में हैं। केवल इन्हीं मुसलमान शासकों ने नहीं, किंतु निम्नलिखित शासकों ने भी देवनागरी वर्णमाला को अपने सिक्कों में स्थान दिया था।

(१) जलालुद्दीन रजिया, प्रसिद्ध बेगम (जिसने १२३६ से १२३९ ई० तक शासन किया)।

(२) मुइज्जुद्दीन बहरामशाह (१२३९—१२४१ ई०)।

(३) अलाउद्दीन मसऊद शाह (१२४१—१२४६ ई०)।

(४) नासिरुद्दीन महमूद (१२४६—१२६५ ई०)।

(५) गियासुद्दीन बल्बन (१२६५—१२८७) ई०।

(६) मुइज्जुद्दीन कैकुबाद (१२८७—१२९० ई०)।

(७) जलालुद्दीन फीरोज २ (१२९०—१२९५ ई०)।

(८) अलाउद्दीन मुहम्मदशाह २ (१२९५—१३१५ ई०)।

गियासुद्दीन तुगलक ने भी, जिसने १३२० से १३२५ ई० तक शासन किया, अपने सिक्के पर इस लिपि का प्रयोग किया, जहाँ 'श्रीसुलतां गयासुदीं' यह लिखा मिलता है। उसके परवर्ती मुहम्मद तृतीय बिन तुगलक के कुछ सिक्कों पर भी 'श्रीमुहम्मद' इसी लिपि में लिखा है। आगे के काल में सूरि वंश के कुशल संस्थापक शेरशाह को, जिसने भारत का साम्राज्य हुमायूँ से छीन लिया और १५४० से १५४५ ई० तक लोकहित के अनेक कार्य करते हुए सफलता से शासन

किया, अपने सिक्कों पर गाथाओं के लिखने में हम इसी लिपि का प्रयोग करते पाते हैं। उसके परवर्ती इस्लामशाह (१५४५—१५५२ ई०) और मुहम्मद आदिलशाह (१५५२-५६ ई०) ने इसका ऐसा ही प्रयोग किया।

आगे हम देखते हैं कि अनेक अन्य मुसलमान शासकों को नागरी लिपि के प्रयोग के प्रति कोई विरोध नहीं था। उदाहरणार्थ, गियासुद्दीन इवाज ने, जिसने १२११ से १२१६ ई० तक बंगाल का शासन किया, गियासुद्दीन बहादुरशाह ने, जिसने १५५४ से १५६० ई० तक राज्य किया और दाऊदशाह करानी ने, जिसने १५७२ से १५७६ ई० तक उस प्रांत का शासन किया, इसी लिपि में अपनी गाथाएँ लिखीं। चार स्वतंत्र मुसलमान शासकों ने भी, जो दिल्ली के सुल्तान बादशाहों के समकालीन थे—नासिरुद्दीन कुबाचा (१२०३—१२२८ ई०), ख्वारिज्म का जलालुद्दीन (१२२०—१२२४ ई०), सैफुद्दीन अलहसन कुरलग (१२३६—१२४६ ई०) और नासिरुद्दीन मुहम्मद कुरलग (१२४६ ई०)—अपने सिक्कों पर गाथाएँ हिंदी में अंकित कीं।

और इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सेस्सानी वंश, जो पश्चिमी भारत में हूणों के आक्रमण के बाद स्थापित हुआ था, अपने सिक्कों पर पहलवी के साथ देवनागरी लिपि का प्रयोग करता था। इनमें से एक सिक्के पर 'शाही तिगिन' का नाम है और उसकी नागरी गाथा का अर्थ 'भारत और फारस का राजा' है।

ये तथ्य स्पष्टतया बताएँगे कि विभिन्न वंशों के मुसलमान शासक, जिन्होंने भारत पर अधिकार किया,—जब से कि अर्धचंद्र इस भूमि पर लहराने लगा तभी से—देवनागरी लिपि के समर्थक थे, जिसके प्रति अब मुसलमान जनता को बड़ी आपत्ति हो रही है। काल की आवश्यकताओं के कारण इसकी माँग हुई और करोड़ों हिंदुओं की सदिच्छा से इसका पोषण भी हुआ। भारतीय मुसलमान उपरिलिखित तथ्यों पर ध्यान दें और यदि कुछ प्रतिकूल धारणाएँ हों तो उन्हें त्यागकर भारत में देवनागरी को अपने मार्ग पर निर्विघ्न चलने दें।

समीक्षा

नारी—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; पृष्ठ-संख्या २१६; मूल्य १।।)।

जमना एक साधारण हिंदू गृहस्थ नारी है। उसका पति बिंदा (वृंदावन) नौकरी के लिये कलकत्ते गया और बरसों तक लौटकर न आया। इस बीच जमना के देवोपम ससुर की मृत्यु हो गई और वह अपने एकमात्र बच्चे हरलाल को लेकर पति के वियोग में किसी तरह दिन काटने लगी। इसी वियोग-काल में एक दिन डाकिया एक पैकेट दे जाता है जिसे वह अपने पति का पत्र समझकर उत्सुकतापूर्वक हल्ली (हरलाल) से पढ़वाने चलती है, पर उसे निराश होना पड़ता है। उसमें हल्ली का सूचीपत्र निकलता है जिसे उसने कहीं से लिखकर मँगवाया था। उस रंगीन सूचीपत्र के पीछे हल्ली अपने सहपाठियों, विशेषकर हीरा, की ईर्ष्या का पात्र बनता है और शाला के पंडितजी द्वारा पिटता भी है।

हीरा मोतीलाल चौधरी का लड़का है जो अपने कई सौ रुपए जमना पर निकालता है। मोतीलाल महाजनी परंपरा का सच्चा प्रतिनिधि है—लोभी, धूर्त और बेईमान। जमना उसका ऋण चुका देती है पर वह झूठी रसीदें देकर उसे धोखा देता है। वह रुपए पाकर भी जमना के कुएँ, खेत और उसके पुत्र समान प्यारे आम के पेड़ पर अधिकार करना चाहता है। वह पहले तो अजीत से सौदा करता है पर जब उससे दाल नहीं गलती तो वह सीधे बिंदा से जाकर परदेस में मिलता है और उससे झूठमूठ कहता है कि जमना अब अजीत के साथ रहती है। वह उसे कुवाँ और खेत अपने नाम लिख देने के लिये तैयार करता है और उसे सदर की कचहरी में ले जाकर शीघ्रता

से लिखा-पढ़ी पक्की करा लेता है। बेचारा बिंदा सदर तक आकर भी घर नहीं आता।

जमना अपूर्व सुंदरी है, किंतु इतनी गंभीर, आस्तिक और पति-भक्त कि वह दूसरा पति करने की बात भी नहीं सोच सकती, यद्यपि उसके समाज में इसके लिये निषेध नहीं। वह सीधी इतनी है कि उसे विश्वास नहीं होता कि मोतीलाल उसे झूठी रसीद दे सकता है या हीरा हल्ली के रुपए चुरा सकता है। अजीत माते के लाख प्रयत्न करने पर भी वह यह कहना नहीं चाहती कि उसे मोतीलाल के रुपए नहीं देने हैं। बुरा तो वह किसी का सोच ही नहीं सकती।

अजीत माते अपनी स्त्री के देहांत के बाद से एकांत जीवन व्यतीत करता है। जंत्र मंत्र के लिये तो वह प्रसिद्ध है ही, उसे वह सारी समयोचित विद्या भी स्वभावसिद्ध है जो एक सफल ओझा के लिये अपेक्षित होती है। इसके सिवा प्रबल पुरुषत्व उसके मन और शरीर दोनों में भरा हुआ है। उसमें अपूर्व साहस है और वह दुनियादारी से खूब परिचित है। यही अजीत एक दिन ऊपर से तो केवल असहाय जमना का हितू बनकर, पर भीतर उसे वश में करने की एक अदम्य आकांक्षा लिए हुए, उसकी छोटी सी गिरिस्ती में उतरता हुआ दिखाई देता है। वह जमना को एक समझदार औरत की तरह घर बसाने की शिक्षा देता है और अपने सूने जीवन के अभाव की ओर उसकी सहानुभूति खींचता है। वह उसे महाजन का भय दिखाकर अपने को उसका एक मात्र रक्षक सिद्ध करना चाहता है और उसे यह विश्वास दिलाने के लिये कि उसका पति मर गया, वह नीच जगलाल को गवाह पेश करता है। किंतु जमना पर उसका कोई जंत्र मंत्र नहीं चलता। तब वह सच्चे प्रेमी की भाँति सब प्रकार से जमना के हित-साधन में जुट पड़ता है और अनेक कष्ट सहता है। अंत में जमना कृतज्ञता से द्रवित होकर उसके साथ घर बसाने को तैयार हो जाती है। पर मानो उसका धर्म उसे इस भूल को सँभाल लेने के लिये एक अवसर

देता है। अजीत विचार करने के लिये समय माँगता है और इस बीच जमना सचमुच सँभल जाती है।

जमना के जीवन का हल्ली ही एक सहारा है। हल्ली के लिये ही वह मजबूर होकर अजीत के सामने झुक जाती है। हल्ली यद्यपि अजीत को प्यार करता था, पर माँ के साथ उसके नए संबंध की कल्पना करके वह उससे जल उठता है। पिता के वियोग तथा माता के दुःख से वह बीमार पड़ता है, पर फिर यह समझकर कि माँ के दुःख का वही कारण हो रहा है, वह जमना को अजीत के घर रहने की सम्मति देता है। जमना उसकी इस कमजोरी पर उसे मीठी सी झिड़की देती है। फिर वह अपनी संपत्ति को सदा के लिये मोतीलाल पर निछावर करके पुत्र के साथ चल पड़ती है—जीवन के उस अंधकारमय अनंत पथ पर जिसका कहीं छोर नहीं। लेखक के शब्दों में "वह चिरंतन नारी युग युग के अंधकार में उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है,—दुःख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके! उसे कोई भय नहीं है, कोई चिंता नहीं है।"

नारी का क्षेत्र बड़े बड़े नगरों की विक्षोभकारी भीड़भाड़ से दूर उस शांत वातावरण में है जहाँ भारत का हृदय स्थित है। उसमें न दिमागी लड़ाई लड़नेवाले चरित्रों का ढेर है, न साँस रोकनेवाली जटिल घटनाओं की भरमार। प्रेम की गुदगुदानेवाली अठखेलियाँ भी नहीं हैं। जो है वह सामान्य और चिर परिचित। पर लेखक की मर्म-भरी लेखनी के स्पर्श से वह पारस हो गया है। उपन्यास में हमें काव्य का सा रस मिलता है। क्यों न हो? सियारामशरणजी उप-न्यासकार के पहले तो सिद्धहस्त कवि ही हैं। उनकी इस कृति के बीच बीच में छिपा हुआ काव्यमर्म उसी प्रकार हृदय को स्पर्श कर लेता है जिस प्रकार हल्ली को अपने बिरवे के घने पल्लवों में छिपे हुए आम के गुच्छे दिखाई पड़ते हैं। वह हल्ली और उसकी बालमंडली तो जैसे इस उपन्यास का प्राण ही है। पर जिस प्रकार मधुर बाल्यावस्था के बाद हल्ली को कठोर संसार का सामना करना पड़ा उसी प्रकार अंत में

पूरे बल के साथ एक समस्या हमारे हृदय में चुभ जाती है, जब हम अंधकार में विलीन होती हुई असहाय जमना के पीछे व्यर्थ आँखें फाड़े हुए सन्न-से खड़े रह जाते हैं। उस समय कुछ देर के लिये हमें विचार में पड़ जाना पड़ता है।

गुप्तजी की यह सुंदर कृति हिंदी संसार के लिये अवश्य मान्य होगी।

चित्रगुप्त

हिंदुस्तानी की पहली किताब—प्रकाशक दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा, मदरास; पृष्ठ संख्या ६५; मूल्य लिखा नहीं।

यह "पहली किताब" मदरास सरकार के लिये तैयार की गई है और वहाँ के प्राइमरी स्कूलों में कदाचित् अनिवार्य रूप से पढ़ाई जायगी। पुस्तक के आरंभ में मदरास सरकार के प्रधान सचिव के नाम मौलाना अब्बुल कलाम आजाद का लिखा हुआ अँगरेजी भाषा में एक प्रमाणपत्र भी छपा है, जिसमें कहा गया है कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह वास्तव में उस भाषा का सच्चा नमूना है, जिसे सार्वप्रांतीय भाषा "बनने" का स्वाभाविक अधिकार है। मतलब यह कि यह वह भाषा है जो सब प्रांतों के पारस्परिक विचार-विनिमय के लिये गढ़ी जा रही है—वस्तुतः कोई ऐसी भाषा नहीं है जो पहले से देश में चली आ रही हो। और बात है भी ठीक।

कुछ ही वर्ष पहले हमारे प्रांत की सरकार ने हिंदुस्तानी नाम की एक ऐसी नई भाषा गढ़ने का विचार किया था जो नागरी और फारसी दोनों लिपियों में समान रूप से लिखी जा सके, जिसे हिंदू और मुसलमान सभी समझ सकें। समझदारों का माथा उसी समय ठनका था। परंतु यह कल्पना ऊपर से देखने में बहुत ही सुंदर थी और इसलिये इसने उन लोगों को बहुत जल्दी मोह लिया जिनके हाथ में देश के राजनीतिक आंदोलन की बाग-डोर थी। अवश्य ही हिंदी

और उर्दू दोनों भाषाओं के साहित्यसेवी इस नई गढ़ी जानेवाली भाषा को सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे; क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे और जानते हैं कि आजकल "हिंदुस्तानी" के नाम से जो नई भाषा गढ़ी जा रही है वह इसलिये साहित्य के किसी काम की नहीं है कि गंभीर विषयों तथा उच्च विचारों के व्यंजन के लिये उसका उपयोग नहीं हो सकता। परंतु देश के राजनीतिक नेताओं ने बिना सोच-विचार किए और बिना साहित्यसेवियों और भाषाविदों का कुछ भी परामर्श लिए केवल इस उद्देश्य से इस भाषा का समर्थन और प्रचार करना आवश्यक समझ लिया कि इससे देश के भिन्न भिन्न संप्रदायों और जातियों में एकता बढ़ेगी। यह विषय बहुत गंभीर है और एक छोटी सी पुस्तक की समीक्षा में इसके सब अंगों का विवेचन न तो संभव ही है और न वांछनीय ही।

मदरास की वर्त्तमान आधुनिक सरकार अपने प्रांत में इस नई हिंदुस्तानी भाषा का प्रचार करने पर तुल गई है और इसी लिये यह "पहली किताब" तैयार कराई गई है। यह पहली किताब उस मदरास प्रांत के बालकों को पढ़ाई जायगी जहाँ के हिंदुओं की बात तो जाने दीजिए, बड़े बड़े पढ़े-लिखे मुसलमान भी अरबी फारसी का एक शब्द नहीं जानते। यह पुस्तक मदरासवालों को यह बतलावेगी कि उत्तरी भारत में हिंदी और उर्दू नाम की दो अलग अलग भाषाएँ हैं, जिन्हें क्रमशः हिंदू और मुसलमान बोलते हैं और जिन दोनों के संयोग से यह नई हिंदुस्तानी भाषा बन रही है। यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मदरास सरीखे प्रांत में, जहाँ की भाषाओं में तीन-चौथाई के लगभग संस्कृत के शब्द होते हैं, इस हिंदुस्तानी भाषा के प्रचार का राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से कितना घातक प्रभाव पड़ेगा। लेकिन दुःख इसी बात का है कि इस थोड़े से समय में ही वह हिंदी पर बहुत बड़ा आघात कर जायगी। और इस आघात से हिंदी को बचाना प्रत्येक हिंदीसेवी का परम कर्त्तव्य है।

खैर; पुस्तक में जहाँ तहाँ इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि यह या तो किसी हिंदी-दाँ मौलवी की लिखी है और या किसी ऐसे

सज्जन की लिखी है जिन पर उर्दू-फारसी का काफी प्रभाव है। पुस्तक में हिंदी भाषा के शब्द अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और अरबी-फारसी के शब्दों की भर-मार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें ही पृष्ठ पर अकरम, ज़मज़म और अग़मत आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आए हैं जिनका मतलब शायद मदरास के बड़े बड़े मुल्ला भी न समझते होंगे। और इसी तरह के शब्दों से युक्त हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में पुस्तक के आरंभ में "बच्चों से" कहा गया है—"यह हमारे देश के करोड़ों आदमियों की जबान है और थोड़े दिनों में देश के सारे लोग इसे समझेंगे। ...... इससे आपस का मेल-जोल और बढ़ेगा।" अरबी और फारसी के मुश्किल से मुश्किल शब्द तो इसमें बिल्कुल शुद्ध रूप में रखे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे "अमृत" शब्द के भी हाथ-पैर तोड़कर उसे "अमरत" बना दिया गया है। पृ० ३७ में आया है—"रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-बी, नमस्ते।" यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या। अंतिम पृष्ठ पर "हमारा देश" शीर्षक कविता का पहला पद है—

"हिन्दुस्ताँ है देश हमारा, जान से हमको अपनी प्यारा।"

कैसी खासी उर्दू वाक्य-रचना है! अगर इसी को "हमको अपनी जान से प्यारा।" कर दिया जाता तो शायद उसमें हिंदी-पन आ जाता। लाना तो था हिंदुस्तानी-पन; इसलिये "जान से हमको अपनी प्यारा।" रखा गया, जिसका ठीक ठीक अन्वय शायद दिल्ली और लखनऊ के बच्चे भी न कर सकें।

और ऐसी पुस्तक किसने प्रकाशित की है? उस संस्था ने जिसका नाम "दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा" है और जिसकी स्थापना किसी समय दक्षिण भारत में सचमुच हिंदी का प्रचार करने के लिये हुई थी और जिसने दक्षिण में अब तक हिंदी का बहुत कुछ प्रशंसनीय प्रचार किया भी है!

रामचंद्र वर्मा

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची पत्रिका के दूसरे अंक में प्रकाशित होगी।—सं०।

विविध

पत्रिका, वर्ष ४३

"पहिले पहिल सन् १८९६ में यह पत्रिका त्रैमासिक रूप में इस अभिप्राय से निकाली गई कि इसके द्वारा ऐसे लेखों की संख्या बढ़ती रहे जिनका लक्ष्य न कि केवल पाठकों का मनोरंजन करना और उनके रंग में रंग मिलाना हो वरन् हिंदी बोलनेवालों के विचारों को कुछ आगे बढ़ाना और उनकी दृष्टि को कुछ और दूर तक फैलाना हो। १२ वर्ष तक यह पत्रिका उक्त निश्चय के अनुसार पुरातत्त्व, ज्योतिष, दर्शन तथा और और साधारण विषयों पर लेख लेकर उपस्थित होती रही और यदि उन बातों की जिनका हमारी भाषा में अभाव है, पूर्ति नहीं तो उन पर ध्यान अवश्य आकर्षित करती रही। × × × × हिंदी साहित्य की सामयिक स्थिति का निदर्शन करना, उसकी उन्नति के उपायों पर विचार करना और उसके संबंध में जहाँ कहीं जो बात हो उसकी सूचना देना अब से यह पत्रिका अपना प्रधान धर्म समझेगी।" सन् १९०९ में तत्कालीन संपादक (पं० रामचंद्र शुक्ल) ने पत्रिका के विगत भागों का इस प्रकार सिंहावलोकन किया था और आगे के लिये नीति स्थिर की थी। आगे दस वर्ष पत्रिका इसी प्रकार प्रकाशित हुई और सन् १९१९ में इसके २४ भाग पूरे हुए। इस बीच इसके स्वरूप में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन होते रहे।

सन् १९२०, अर्थात् संवत् १९७७, में समय देखकर सभा ने 'प्राचीन शोध संबंधी त्रैमासिक पत्रिका' के रूप में पत्रिका का नवीन संस्करण प्रकाशित करना प्रारंभ किया। रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद, स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के उत्साह तथा उद्योग से यह प्रतिष्ठित हो चली। रायल सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन

ऐंड आयर्लैंड की अप्रैल सन् १९२१ की पत्रिका (पृष्ठ २८६-८७) में ही प्रसिद्ध विद्वान् श्री जी० ए० ग्रिअर्सन ने लिखा था, "रायल सोसाइटी के सभासदों का ध्यान नागरीप्रचारिणी सभा की मुखपत्रिका 'नागरीप्रचारिणी' के नए संस्करण पर दिलाना चाहिए। × × अब सभा ने पत्रिका का नवीन संस्करण शुद्ध वैज्ञानिक रीति पर प्रकाशित करने का निश्चय किया है और इसके पहले दो अंक सभा के कार्य की विशेष उन्नति के सूचक हैं। इनसे एक ऐसी पत्रिका का आरंभ होता है, जो, हम आशा करते हैं, एक भारतीय विद्वत् सभा के सर्वथा उपयुक्त होगी।" यथासंभव इस आशा के अनुकूल चलकर इसने नवीन संस्करण के १८ भाग तथा अपनी सेवाओं के ४२ वर्ष पूरे किए हैं।

इस अंक से पत्रिका अपने ४३वें वर्ष में प्रवेश करती है। सभा चाहती है कि उसकी मुखपत्रिका अपने पद पर आरूढ़ रहकर और भी उपयोगी सिद्ध हो, इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत हों। अतः सभा ने इसके उद्देश्य अब इस प्रकार निश्चित कर दिए हैं—

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

इस नीति के अनुसार पत्रिका के आकार तथा प्रकार में कुछ आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं। आशा है, विद्वज्जन तथा उत्साही पाठक इनका स्वागत करेंगे और पत्रिका उनके वर्धमान सहयोग तथा सहायता से हिंदी भाषा तथा साहित्य एवं भारतीय अनुशीलन की अधिकाधिक सेवा कर सकेगी।

सभा की प्रगति

संवत् १९९४ का सभा का वार्षिक विवरण १७ वैशाख १९९५ के वार्षिक अधिवेशन द्वारा स्वीकृत होकर उसी मास में प्रकाशित हुआ। उक्त अधिवेशन में ही नियमावली में भी संशोधन हुआ और संशोधित नियमावली प्रकाशित करके, वार्षिक विवरण के साथ ही, सभासदों के पास भेज दी गई।

वार्षिक चुनाव

वार्षिक अधिवेशन में संवत् १९९५ के लिये जो पदाधिकारी तथा प्रबंधसमिति के सदस्य चुने गए उनके नाम इस प्रकार हैं:—

पदाधिकारी

सभापति—पं० रामनारायण मिश्र, बी० ए०, पी० ई० एस० (रिटायर्ड)।

उपसभापति—रायसाहब ठा० शिवकुमार सिंह। पं० रामचंद्र शुक्ल।

प्रधान मंत्री—पं० रामबहोरी शुक्ल, एम० ए०, साहित्यरत्न।

अर्थमंत्री—बाबू ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०।

साहित्यमंत्री—बाबू रामचंद्र वर्मा।

सदस्य

संवत् १९९५ से १९९७ तक — श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी०। श्री राय कृष्णदास। श्री पं० विद्याभूषण मिश्र, एम० ए०। पं० रमेशदत्त पाँडे, बी० ए०। पं० श्रीराम मिश्र एम० ए०, एल-एल० बी०। पं० अयोध्यानाथ शर्मा, एम० ए०। श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, एम० ए०। श्री राधेकृष्णदास, श्री कृष्णानंद, एम० ए०, बी० टी०।

संवत् १९९५ से १९९६ तक	पं० बलराम उपाध्याय ऐडवोकेट, एम० ए०, एल-एल० बी०। पं० केशवप्रसाद मिश्र। श्री राधाकृष्ण नेवटिया। श्री सूर्यप्रसाद महाजन। पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी, एम० ए०, एल०-एल० बी०। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदर दास, बी० ए०। श्री
संवत् १९९५ तक	ठाकुरदास, बी० ए०, एल-एल० बी०। श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०। पं० रमापति शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०। श्री दत्तो वामन पोतदार। श्री व्योहार राजेंद्र सिंह। ठाकुर गोपालशरण सिंह।

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर बाबू शिवप्रसाद गुप्त प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए।

नई प्रबंधसमिति के द्वारा प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग निम्नलिखित उपसमितियाँ बनाई गईं—

साहित्य उपसमिति	संयोजक	साहित्य-मंत्री।
अर्थ उपसमिति	,,	अर्थ-मंत्री।
पुस्तकालय उपसमिति	,,	ठा० शिवकुमार सिंह।
सभाभवन उपसमिति	,,	श्री गुरुशरणलाल सिन्हा।
हिंदी-नागरी-प्रचार उपसमिति	,,	पं० चंद्रबली पांडेय, एम० ए०।
संकेत लिपि उपसमिति	,,	पं० निष्कामेश्वर मिश्र।

इस वर्ष नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादन के लिये एक संपादक-मंडल चुना गया जिसके सदस्यों का नामोल्लेख प्रस्तुत अंक के कवर पृष्ठ २ पर है।

हस्तलिपि-शोध विभाग के निरीक्षक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट् तथा सहायकनिरीक्षक पं० विद्याभूषण मिश्र, एम० ए० चुने गए।

प्रकाशन

इस वर्ष अब तक निम्नलिखित पुस्तकें छपकर तैयार हुई हैं—

रसगंगाधर भाग २, भारत का अंधकारयुगीन इतिहास।

शब्दसागर खंड २ (पुनर्मुद्रित) (द्वितीय संस्करण) सूर-सुषमा, त्रिवेणी, प्रेमसागर, रानी केतकी की कहानी।

मश्रासिरुल उमरा भाग २ तथा सोवियतभूमि, ये दो पुस्तकें छप रही हैं और शीघ्र तैयार हो जायँगी।

प्रचार

श्री सत्यनारायण शर्मा, जो सभा के सभासद हैं और जो लंका में हिंदी-प्रचार का कार्य कर रहे थे, इस समय वहाँ से लौट आए हैं। खेद है कि अर्थाभाव के कारण सभा न उन्हीं को फिर लंका भेज सकी और न किसी अन्य सज्जन को ही। अतः वहाँ का काम रुका पड़ा है।

प्रचार की दृष्टि से सभा ने इधर कुछ संस्थाओं को नागरी-प्रचारिणी पत्रिका तथा कुछ पुस्तकें बिना मूल्य दी हैं, जिनमें इस्लामियाँ पुस्तकालय बनारस तथा यंग मेंस इंडियन ऐसोसिएशन, मदुरा, के नाम मुख्य हैं। दो हिंदी पढ़नेवाले मद्रासी विद्यार्थियों को भी सहायता दी जाती है।

आर्थिक स्थिति

इस समय सभा की सबसे मुख्य समस्या धन-संग्रह करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की है। यथासंभव सभा ने अपना व्यय कम कर दिया है, और पुस्तकों की बिक्री तथा सभासदों की संख्या बढ़ाकर आय में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा रहा है। स्थायी सभासदों के चंदे से ९००) रुपये के लगभग एकत्र हुआ है जो बंक में स्थायी कोष के खाते में जमा कर दिया गया है। स्थायी कोष के रुपयों के स्टाक सर्टीफिकेट खरीदे जायँगे। यह निश्चय हो चुका है कि पुस्तक-प्रकाशन तथा पुरस्कारों की निधियों में से जिनके सरकारी

कागज नहीं खरीदे गए हैं उनके भी स्टाक सर्टीफिकेट खरीद कर सब ट्रेजरर आव चेरिटेब्ल एंडाउमेंट फंड, यू० पी०, के पास जमा कर दिए जायँ।

धन-संग्रह करने के लिये सभा का एक प्रतिनिधि-मंडल शीघ्र ही कलकत्ता, ग्वालियर, राजपूताना आदि स्थानों में भ्रमण करेगा। पहले यह मंडल कलकत्ता जायगा। वहाँ के उत्साही सभासदों ने सहायता देने का वचन दिया है। उदयपुर राज्य के रेवेन्यू मिनिस्टर पं० कमलाकर द्विवेदी ने भी सभा को सहायता दिलाने का वचन दिया है और उनकी सहायता से प्रतिनिधि-मंडल राजपूताना तथा ग्वालियर से धन संग्रह करेगा।

प्रसन्नता की बात है कि इस वर्ष प्रांतीय सरकार ने कलाभवन के लिये १२००) की एककालीन सहायता की स्वीकृति दी है और आशा है कि सरकार यह सहायता वार्षिक रूप में दिया करेगी।

छप रही है !   छप रही है !!

श्री राहुल सांकृत्यायन की

अद्भुत और अपूर्व सबसे हाल की पुस्तक

सोवियत भूमि

सोवियत रूस के सम्बन्ध की यह विस्तृत, रोचक और परम विश्वसनीय पुस्तक आपको यह बतलावेगी कि रूस में यह नई साम्यवादी क्रान्ति किन अवस्थाओं में और किन कारणों से हुई थी और इसने थोड़े ही समय में सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी सारे रूस की किस प्रकार काया-पलट करके उसे एक ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया है, जिसे आधा संसार आदर्श समझता है और आधा संसार जिससे भयभीत हो रहा है। इस पुस्तक में रूस के क्रान्तिकारक नेताओं की जीवनियाँ, वहाँ के उद्योग-धन्धों और कल-कारखानों के विस्तृत विवरण, नगरों और ग्रामों की नवीन व्यवस्था, पंच-वार्षिक योजनाओं के शुभ फल, लेखकों, कवियों, नाटकों, फिल्मों और संग्रहालयों आदि के विवरण तथा इसी प्रकार की ऐसी सैकड़ों हजारों बातें दी गई हैं जिन्हें जानने के लिए लोग बहुत दिनों से उत्सुक हैं और जिनसे आपका केवल मनोरंजन ही नहीं होगा, बल्कि आपके ज्ञान में भी बहुत अधिक वृद्धि होगी। रूस के अतिरिक्त इस पुस्तक में फारस और अफगानिस्तान आदि से सम्बन्ध रखनेवाली इसी प्रकार की बहुत सी मनोरंजक, उपयोगी और जानने-योग्य बातें भी हैं। इस उपयोगी और महत्वपूर्ण पुस्तक के लेखक हैं सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान और हिन्दी के सिद्ध-हस्त लेखक तथा यात्रा विषयक अनेक पुस्तकों के रचयिता श्री राहुल सांकृत्यायन। उन्होंने अभी हाल में अफगानिस्तान, फारस और रूस में स्वयं भिन्न भिन्न स्थानों में घूमकर और वहाँ की सारी व्यवस्था अपनी आँखों देखकर यह पुस्तक लिखी है। साथ में कोई सवा सौ से अधिक चित्र भी हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता तथा सुन्दरता और भी बढ़ गई है। पुस्तक पाँच सौ से ऊपर पृष्ठों के दो भागों में है और प्रत्येक भाग का मूल्य २॥) है। परन्तु जो सज्जन १५ ~~दिसम्बर~~ तक अ १) अग्रिम भेजकर ग्राहक-श्रेणी में नाम लिखावेंगे, उन्हें दोनों भाग केवल ४) में दिये जायँगे। डाक व्यय अलग होगा।

यह पुस्तक मनोरंजन पुस्तक माला में छपेगी, अतः इस माला के स्थायी ग्राहकों को भी यह ४) में ही दी जायगी। मनोरंजन पुस्तक-माला के जो ग्राहक यह पुस्तक लेना चाहें, उन्हें इस सम्बन्ध की सूचना तुरन्त भेजनी चाहिए।

मन्त्री, नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी।

नवीन प्रकाशित पुस्तकें—

अन्धकार युगीन भारत

(अनुवादक—बा० रामचन्द्र वर्मा)

प्रस्तुत पुस्तक स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, बार-एट-लॉ की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। भारतीय इतिहास में ईसवी सन् १८० से ३२० तक का समय अन्धकार युग कहा जाता है जिस पर स्व० डा० जायसवाल ने पूर्ण प्रकाश डाला है। राष्ट्र तथा इतिहास के प्रेमियों के लिये यह पुस्तक संग्रहणीय है। आवश्यक चार्ट एवं चित्र भी यथा स्थान दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। लगभग ५४० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३॥) ।

हिन्दी-रसगंगाधर (दूसरा भाग)

(अनुवादक—पण्डित पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी)

यह संस्कृत के उद्भट विद्वान् जगन्नाथ पण्डितराज के ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है। संस्कृत के जानकारों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि "रसगंगाधर" संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त प्रामाणिक लक्षण ग्रन्थ है। अलंकार सम्बन्धी स्वतन्त्र आलोचनाओं से भरा हुआ इतना पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में इसके पश्चात् दूसरा नहीं बना। इसी ग्रन्थरत्न का यह हिन्दी रूपान्तर है। इसमें उदाहरण के मूल श्लोक तो हैं ही उनका रूपान्तर भी छन्दोबद्ध ही है। प्रथम भाग, जो पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो चुका है, काव्य के लक्षण भेद तथा रस आदि के सम्बन्ध में है। प्रस्तुत भाग में अलंकारों का बड़े विस्तार के साथ मार्मिक वर्णन किया गया है। साहित्य प्रेमियों को इस ग्रन्थ की एक प्रति अपने संग्रह में अवश्य रखनी चाहिये। पृष्ठ संख्या लगभग ८०० । मूल्य सिर्फ ३॥) तीन रुपया आठ आने।

त्रिवेणी

(रचयिता—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के "मलिक मुहम्मद जायसी", "महाकवि सूरदास" तथा "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक तीन समालोचनात्मक प्रबन्धों के विशिष्ट अंशों का संग्रह है। इसके प्रारम्भ में श्रीकृष्णानन्दजी की ३० पृष्ठों की भूमिका भी है। पुस्तक के नवीन संस्करण का मूल्य १) एक रुपया केवल।

मआसिरुल उमरा (दूसरा भाग)

(अनुवादक—बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल बी०)

यह फारसी का बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें मुग़ल शासन-काल के प्रायः सभी बड़े-बड़े सरदारों और अमीरों की जीवनियाँ हैं। इतिहास प्रेमियों के लिये पुस्तक बड़े मोल की है। प्रायः छप कर तैयार है।

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी।

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कुछ मुख्य पुस्तकों की सूची

भूषण-ग्रंथावली	१)	हम्मीरहठ	।।)
दीनदयाल-ग्रंथावली	१)	कबीर-ग्रंथावली	३)
जायसी-ग्रंथावली (नवीन)	३)	गोस्वामी तुलसीदास	१।)
चित्रावली	१॥)	महादेव गोविंद रानडे	।।।)
परमाल रासो	२)	हरिश्चंद्र ग्रंथावली दूसरा भाग	३)
खुसरो की हिंदी कविता	।।)	सत्य-हरिश्चंद्र नाटक	।=)
हिम्मतबहादुर बिरुदावली	।।)	हरिश्चंद्र काव्य	≡)
तुलसी-ग्रंथावली (दो खंड) प्रत्येक खंड	२)	हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण	३)
कवितावली	।।=)	सजिल्द	३।।)
गीतावली	१)	यूनान का इतिहास	।।।)
दोहावली	।–)	चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान	।)
पृथ्वीराज रासो	५०)	महाराणा प्रताप-नाटक	।।)
हम्मीर रासो	१।।)	अन्योक्ति कल्पद्रुम	।=)

मनोरंजन पुस्तकमाला

आदर्श जीवन	१।)	विश्वप्रपंच (दो भाग)	२।।)
गुरु गोविंदसिंह	१।)	अहल्याबाई	१।)
आदर्श हिंदू (तीन भाग)	३।।।)	रामचंद्रिका	१।)
राणा जंगबहादुर	१।)	ऐतिहासिक कहानियाँ	१।)
भीष्म पितामह	१।)	हिंदी-निबंधमाला (दो भाग)	२।।)
लाल चीन	१।)	सूरसुधा	१।)
कबीर वचनावली	१।)	कर्त्तव्य	१।)
मितव्यय	१।)	संक्षिप्त रामस्वयंवर	१।)
वीरमणि	१।)	शिशु-पालन	१।)
शासनपद्धति	१।)	शाही दृश्य	१।)
महर्षि सुकरात	१।)	पुरुषार्थ	१।)
आत्म-शिक्षण	१।)	तर्कशास्त्र (३ भाग)	३।।।)
सुंदरसार	१।)	प्राचीन आर्य्य-वीरता	१।)
जर्मनी का विकास (दो भाग)	२।।)	रोम का इतिहास	१।)
कृषि-कौमुदी	१।)	रसखान और घनानंद	१।)
कर्तव्यशास्त्र	१।)	मानस सरोवर और कैलाश	१।)
मुसलमानी राज्य का इतिहास (दो भाग)	२।।)		

नवीन प्रकाशित पुस्तकें—

अन्धकार युगीन भारत

(अनुवादक—बा० रामचन्द्र वर्मा)

प्रस्तुत पुस्तक स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, वार-एट-लॉ की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। भारतीय इतिहास में ईसवी सन् १८० से ३२० तक का समय अन्धकार युग कहा जाता है जिस पर स्व० डा० जायसवाल ने पूर्ण प्रकाश डाला है। राष्ट्र तथा इतिहास के प्रेमियों के लिये यह पुस्तक संग्रहणीय है। आवश्यक चार्ट एवं चित्र भी यथा स्थान दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। लगभग ५४० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३॥) ।

हिन्दी-रसगंगाधर (दूसरा भाग)

(अनुवादक—पण्डित पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी)

यह संस्कृत के उद्भट विद्वान् जगन्नाथ पण्डितराज के ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है। संस्कृत के जानकारों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि "रसगंगाधर" संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त प्रामाणिक लक्षण ग्रन्थ है। अलंकार सम्बन्धी स्वतन्त्र आलोचनाओं से भरा हुआ इतना पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में इसके पश्चात् दूसरा नहीं बना। इसी ग्रन्थरत्न का यह हिन्दी रूपान्तर है। इसमें उदाहरण के मूल श्लोक तो हैं ही उनका रूपान्तर भी छन्दोबद्ध ही है। प्रथम भाग, जो पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो चुका है, काव्य के लक्षण भेद तथा रस आदि के सम्बन्ध में है। प्रस्तुत भाग में अलंकारों का बड़े विस्तार के साथ मार्मिक वर्णन किया गया है। साहित्य प्रेमियों को इस ग्रन्थ की एक प्रति अपने संग्रह में अवश्य रखनी चाहिये। पृष्ठ संख्या लगभग ८०० । मूल्य सिर्फ ३॥) तीन रुपया आठ आने।

त्रिवेणी

(रचयिता—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के "मलिक मुहम्मद जायसी", "महाकवि सूरदास" तथा "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक तीन समालोचनात्मक प्रबन्धों के विशिष्ट अंशों का संग्रह है। इसके प्रारम्भ में श्रीकृष्णानन्दजी की ३० पृष्ठों की भूमिका भी है। पुस्तक के नवीन संस्करण का मूल्य १) एक रुपया केवल।

मआसिरुल उमरा (दूसरा भाग)

(अनुवादक—बाबू व्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल बी०)

यह फारसी का बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें मुग़ल शासन-काल के प्रायः सभी बड़े-बड़े सरदारों और अमीरों की जीवनियाँ हैं। इतिहास प्रेमियों के लिये पुस्तक बड़े मोल की है। प्रायः छप कर तैयार है।

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी।

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कुछ मुख्य पुस्तकों की सूची

भूषण-ग्रंथावली	१)
दीनदयाल-ग्रंथावली	१)
जायसी-ग्रंथावली (नवीन)	३)
चित्रावली	१॥)
परमाल रासो	२)
खुसरो की हिंदी कविता	॥)
हिम्मतबहादुर विरुदावली	॥)
तुलसी-ग्रंथावली (दो खंड) प्रत्येक खंड	२)
कवितावली	॥=)
गीतावली	१)
दोहावली	।-)
पृथ्वीराज रासो	५०)
हम्मीर रासो	१॥)
हम्मीरहठ	॥)
कबीर-ग्रंथावली	३)
गोस्वामी तुलसीदास	१।)
महादेव गोविंद रानडे	।॥)
हरिश्चंद्र ग्रंथावली दूसरा भाग	३)
सत्य-हरिश्चंद्र नाटक	।=)
हरिश्चंद्र काव्य	≡)
हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण	३)
सजिल्द	३॥)
यूनान का इतिहास	।॥)
चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान	।)
महाराणा प्रताप-नाटक	॥)
अन्योक्ति कल्पद्रुम	।=)

मनोरंजन पुस्तकमाला

आदर्श जीवन	१।)
गुरु गोविंदसिंह	१।)
आदर्श हिंदू (तीन भाग)	३॥)
राणा जंगबहादुर	१।)
भीष्म पितामह	१।)
लाल चीन	१।)
कबीर वचनावली	१।)
मितव्यय	१।)
वीरमणि	१।)
शासनपद्धति	१।)
महर्षि सुकरात	१।)
आत्म-शिक्षण	१।)
सुंदरसार	१।)
जर्मनी का विकास (दो भाग)	२॥)
कृषि-कौमुदी	१।)
कर्तव्यशास्त्र	१।)
मुसलमानी राज्य का इतिहास (दो भाग)	२॥)
विश्वप्रपंच (दो भाग)	२॥)
अहल्याबाई	१।)
रामचंद्रिका	१।)
ऐतिहासिक कहानियाँ	१।)
हिंदी-निबंधमाला (दो भाग)	२॥)
सूरसुधा	१।)
कर्त्तव्य	१।)
संक्षिप्त रामस्वयंवर	१।)
शिशु-पालन	१।)
शाही दृश्य	१।)
पुरुषार्थ	१।)
तर्कशास्त्र (३ भाग)	३॥)
प्राचीन आर्य्य-वीरता	१।)
रोम का इतिहास	१।)
रसखान और घनानंद	१।)
मानस सरोवर और कैलाश	१।)

देवीप्रसाद ऐतिहासिक-पुस्तकमाला

सुंगयुन	१)	मुहणोत नैणसी की ख्यात भाग १	३।।)
फाहियान	१)	,, ,, ,, भाग २	४)
सुलेमान सौदागर	१।)	मआसिरुल उमरा भाग १	४)
अशोक की धर्मलिपियाँ	२)	बुंदेलखंड का इतिहास	३)
हुमायूँनामा	१।।)	मुहणोत नैणसी की ख्यात भाग २	३)
प्राचीन मुद्रा	२)	अंधकारयुगीन भारत	३।।)

सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला

करुणा	३)	कर्मवाद और जन्मांतर	२।।)
शशांक	२)	हिंदी साहित्य का इतिहास	४)
मुद्राशास्त्र	३)	हिंदी की गद्य-शैली का विकास	२)
अकबरी दरबार (तीन भाग)	८)	हिंदी रसगंगाधर भाग १	३।।)
पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास	२)	,, ,, ,, २	३।।)
हिंदू राज्यतंत्र भाग १	३।।)		

बालाबख्श-राजपूत-चारण-पुस्तकमाला

बाँकीदास ग्रंथावली भाग १	।।)	शिखर वंशोत्पत्ति	।।।)
भाग २ ।।।), भाग ३ १।)		व्रजनिधि-ग्रंथावली भाग १	३)
बीसलदेव रासो	।।)	ढोला मारू रा दूहा	४)

अन्य उपयोगी पुस्तकें

हिंदी शब्दसागर

संपादक—बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०

इस प्रकार का सर्वांगपूर्ण कोष अभी तक किसी देशी भाषा में नहीं निकला है। इसमें हिंदी के सभी शब्दों का विस्तारपूर्वक अर्थ मोहावरे और उदाहरण के सहित दिया गया है। यह ४५ अंकों में समाप्त हुआ है।

मूल्य ४५) सजिल्द ५०)

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर

पृष्ठ-संख्या १२०० ४)

हिंदी व्याकरण

लेखक—श्रीयुत पं० कामताप्रसाद गुरु

यह हिंदी भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण है जो प्रायः ७-८ वर्ष के कठिन परिश्रम से तैयार किया गया है।

मूल्य ३।।)

इसके तीन संक्षिप्त संस्करण भी हैं—

(१) संक्षिप्त हिंदी-व्याकरण	।।।=)
(२) मध्य हिंदी-व्याकरण	।।)
(३) प्रथम हिंदी-व्याकरण	।)

हिंदी वैज्ञानिक कोश

(१) भौतिक विज्ञान	।।।)
(२) रसायन शास्त्र	।।=)
(३) गणित विज्ञान	।।।)
(४) ज्योतिष शास्त्र	।।)
(५) वैद्युत शब्दावली	१)
द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ	७।।)
रत्नाकर—राज सं०	८)
,, साधारण सं०	७)
सूर-सागर प्रति अंक	१)

अंक ७ तक छप गया है

इसके छः अंकों का सजिल्द दूसरा खंड भी तैयार है ५)

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

